णमोत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

संग्राहक और अनुवादक

प्रसिद्धवक्ता पण्डित मुनि श्री चौथमलजी

महाराज

द्रव्य सहायक

स्वर्गीय सेठ श्रीमान रामकरणजी गोलेच्छा

की धर्म पत्नि श्रीमती [illegible] नागपुर

प्रकाशक—

श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति

रतलाम

प्रतियां 250 | **अमूल्य भेंट** | वी० २४५६ वि० १९८६

मुद्रक:—श्री जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम.

वन्दे वीरम्

श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति, रतलाम.

के

जन्म दाता

श्रीमान् प्रसिद्ध वक्ता पण्डित मुनि श्री

चौथमलजी महाराज

सदस्य-गण

स्तम्भ

श्रीमान् सेठ	दानवीर रा. ब. कुन्दनमलजी लालचन्दजी	ब्यावर
,, ,,	नेमीचन्दजी सरदारमलजी	नागपुर
,, ,,	सरूपचन्दजी भागचन्दजी	कलमसरा
,, ,,	चुन्नीलालजी पुनमचन्दजी	न्यायडोंगरी
,, ,,	बादरमलजी सूरजमलजी	यादगिरी
,, ,,	तखतमलजी सौभागमलजी	जावरा

संरक्षक

श्रीमान् सेठ उदयचन्दजी छोटमलजी	उज्जैन
,, ,, रतनलालजी लोहामन्डी	आगरा
,, ,, लालचन्दजी प्रेमलजी	गुलेजगढ
,, ,, वरधीचन्दजी सुगनचन्दजी	धामक
,, ,, गणेशमलजी गुलाबचन्दजी	जैना
श्रीमती अनारबाई लोहामण्डी	आगरा
,, पिस्ताबाई लोहामण्डी	आगरा
,, राजीबाई	वरोरा सी. पी.

सहायक

श्रीमान् सेठ पूनमचन्दजी नारायणदासजी	मनमाड़
,, ,, मोतीलालजी रामचन्दजी	नसिराबाद
,, ,, सागरमलजी सुगालचन्दजी	जलगाँव
,, ,, सरूपचन्दजी छगनीरामजी	बेजापुर
,, , चान्दमलजी सूरजमलजी	लासूर
,, ,, तखतमलजी चुन्नीलालजी	घोटीबाज़ार
,, ,, जीतमलजी जीवनचन्दजी	राजनांदगांव
,, ,, रामलालजी सुखलालजी	वरोरा
,, ,, बख्तावरमलजी रतनचन्दजी	भड़गांव
,, ,, लक्ष्मीचन्दजी पुनमचन्दजी	तम्बोला
,, ,, बंशीलालजी गुलाबचन्दजी	न्यायडोंगरी
,, ,, चुन्नीलालजी भींवराजजी	न्यायडोंगरी
,, ,, लक्ष्मीचन्दजी फौजमलजी	न्यायडोंगरी
,, ,, उदयराजजी कालूरामजी	ढाणकी
,, ,, चौथमलजी मुलतानमलजी	सूरापुर

श्रीमान् सेठ कचरदासजी हरखचन्दजी	घोटीबाज़ार
,, ,, रायचन्दजी लालचन्दजी	मनमाड़
,, ,, शोभाचन्दजी दलिचन्दजी	सिलेगांव
,, ,, नथमलजी रतनचन्दजी	मनमाड़
,, ,, लादूरामजी मनोहरमलजी	इगतपुरी
,, ,, सरूपचन्दजी भूरजी	कोपरगांव
,, ,, अमोलखचन्दजी रतनचन्दजी	वाघली
,, ,, जीवराजजी मेघराजजी	बाम्बोरी
,, ,, पुनमचन्दजी हीराचन्दजी	पीसर
,, ,, इन्दरमलजी वरछराजजी	वाघली
,, ,, कस्तुरचन्दजी किशनदासजी	आष्टी
,, ,, लालचन्दजी हरखचन्दजी	रोहिणी

मेम्बर

श्रीमान् सेठ वक्तावरमलजी वरदीचन्दजी	ब्यावर
,, ,, लालचन्दजी मोतीलालजी	अंजनखेड़ा
,, ,, ताराचन्दजी बेचरदासजी	वरणगांव
,, ,, चौथमलजी पुरणमलजी	वेलदे
,, ,, राजमलजी नन्दरामजी	वरणगांव
,, ,, पन्नालालजी मोतीलालजी	सिवनी
,, ,, सुखराजजी जेठमलजी	दारवा
,, ,, डुंगरसिंहजी रतनचन्दजी	किशनगढ़
,, ,, चुन्नीलालजी फूलचन्दजी	इन्द्रठाणा
,, ,, पुरखचन्दजी हस्तीमलजी	छुईखदान
,, ,, हेमराजजी जसराजजी	वरोरा
,, ,, रावतमलजी चोरड़िया	वरोरा

श्रीमान् सेठ चम्पालालजी लक्ष्मीचन्दजी	वरोरा
,, ,, छीतरमलजी गुलाबचन्दजी	वरोरा
,, ,, जीवराजजी जसराजजी	आज (वरोरा)
,, ,, पीरोदानजी हीराचन्दजी	वरोरा
,, ,, ताराचन्दजी वरदीचन्दजी	वाघली
,, ,, चुन्नीलालजी मोतीलालजी	खेड़गांव
,, ,, पेमचन्दजी लखीचन्दजी	केड़गांव
,, ,, हीरालालजी पृथ्वीराजजी	केड़गांव
,, ,, किशनदासजी वीरचन्दजी	घाटसिरस
,, ,, धनराजजी मगनमलजी	गुलेदगड़
,, ,, प्रेमराजजी पन्नालालजी	अहमदनगर
,, ,, राजमलजी चन्दनमलजी	देहरे
,, ,, गेनमलजी मेघराजजी	अहमदनगर
,, ,, गणेशमलजी चतर	सिवनी
,, ,, मोहनलालजी अयदानजी	सोलापुर
,, ,, पुनमचन्दजी मोहनलालजी	हिंगनगांव
,, ,, पंजी दौलतरामजी	अहमदनगर
,, ,, रावतमलजी मिश्रीमलजी	सतारा
,, ,, मन्नालालजी चान्दमलजी	ताल
,, ,, आसकरणजी रतनचन्दजी वैद्य	मुंगेली
,, ,, हंसराजजी पुनमचन्दजी	बोरी
,, ,, भागचन्दजी खुशालचन्दजी	बारामती
,, ,, मोतीलालजी भिकनदासजी	बारामती
,, ,, उजमसी सोमचन्द भाई	बारामती
,, ,, रतनचन्दजी दौलतरामजी	बारामती
,, ,, बालारामजी सरूपचन्दजी	वाघली
,, ,, जीवराजजी खुशालचन्दजी	डोंड
,, ,, कालिदास माहचन्द	सतारा

श्रीमान् सेठ	रामचन्दजी किशनदासजी	डौंड
,,	,, अन्नराजजी अभयराजजी	सिंधनूर
,,	,, श्यामलालजी हजारीमलजी	आगरा
,,	,, नाथूलालजी छगनलालजी	मल्हारगढ
,,	,, जसकरण भाई गुदरभाई	बम्बई
,,	,, चुन्नीलाल भाईचन्द	,,
,,	,, हीरालालजी वाड़ीलाल	,,
,,	,, रसीकलाल हीरालाल	,,
,,	,, बंडूलालजी हरकचन्दजी	नसिराबाद
,,	,, कपूरचन्दजी हंसराजजी	न्यायडोंगरी
,,	,, रतनचन्दजी चन्दूलालजी	,,
,,	,, ऊंकारलालजी विट्ठलजी	धार
,,	,, हीराचन्दजी गुलाबचन्दजी	चालीसगांव
,,	,, पेमराजजी कन्हैयालालजी	उम्बरखेड़ा
,,	,, चान्दमलजी मुलतानमलजी	मनमाड़
,,	,, भीकचन्दजी केवलचन्दजी	मनमाड़
,,	,, गुलाबचन्दजी कचरदासजी	,,
,,	,, छगनारामजी पेमराजजी	वारी
,,	,, खेमराजजी राजमलजी	मनमाड
,,	,, दीपचन्दजी नवलखा	इन्दौर
,,	,, किशनदासजी नंदरामजी	येवला
,,	,, सूरजमलजी किशनदासजी	सयदापुर
,,	,, कुन्दनमलजी घूमरमलजी	घोड़नदी
,,	,, नानचन्दजी भागचन्दजी	,,
,,	,, दीपचंदजी अमलजी	,,
,,	,, नवलमलजी रतनचन्दजी	म्हसा
,,	,, वर्द्धमान मण्डल	हीवड़ा
,,	,, किशनलालजी विरधीचन्दजी	वारी

श्रीमान् सेठ	दीपचन्दजी राजरूपजी	उन्दरगांव
,, ,,	उत्तमचन्दजी अमलजी	रास्तापुर
,, ,,	रूपचन्दजी कनकमलजी	गंगापुर
,, ,,	चंपालालजी छगनलालजी खीलचीपुरा	मन्दसौर
,, ,,	ताराचन्दजी बालचन्दजी	वणी
,, ,,	दुलेहसिंहजी	खांपा
,, ,,	टीकमचन्दजी उत्तमचन्दजी	पारसीवनी
,, ,,	भीकमचन्दजी लखमीचन्दजी	,,
,, ,,	अमृतलालजी सोभागमलजी	,,
,, ,,	केशरीमलजी नथमलजी	कामठी
,, ,,	मांगीलालजी मदनलालजी	वरोरा
,, ,,	मेघराजजी बसन्तीलालजी	कृष्णा
,, ,,	फूलचन्दजी गणेशदासजी	आष्टी
,, ,,	भूरजी रघुनाथजी	लातुर
,, ,,	उमेदमलजी धनराजजी	परभणी
,, ,,	चुन्नीलालजी मोहनलालजी	बाम्बोरी
,, ,,	नरसिंहदासजी दगडुलालजी	हिंगोना
,, ,,	लालचन्दजी पन्नालालजी सुराणा	अहमदनगर

निवेदन

"इणमेव निग्गंथे पावयणे सच्चे, अणुत्तरे, केवलए, संसुद्धे, पडिपुण्णे, णेआउए, सल्लकत्तणे, सिद्धिमग्गे, मुत्तिमग्गे, निव्वाणमग्गे, निज्जाणमग्गे, अवितहमहिसंधि, सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे, इहट्ठिया जीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिणिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करंति।"—नन्दीसूत्र.

पाठको! आज से लग भग ढाई हज़ार वर्ष के पूर्व, इसी भारत वसुन्धरा में, जो वीर महा प्रभु अपने केवल ज्ञान के द्वारा प्रवचन कर गये हैं, उन्हीं निर्ग्रन्थ भगवान् महावीर के ये प्रवचन सत्य हैं; सर्व-प्रधान हैं; सर्वज्ञ के द्वारा कथित हैं; मोक्ष के हेतु से परिपूर्ण हैं; न्याय-युक्त हैं; तीनों प्रकार के शल्यों को शमन करनेवाले हैं; सिद्धि-मार्ग के सच्चे संघाती हैं; निर्लोभता के एक मात्र उत्पादक हैं; सकल कर्मों के कषायों को काट बहानेवाले हैं; मोक्ष के मार्ग में आरूढ़ कर देनेवाले हैं; यथार्थ हैं; पूर्वापर के विरोधात्मक भाव से रहित हैं; और सम्पूर्ण दुःखों के नाश के पथ रूप हैं। इस प्रकार के प्रवचनों में श्रद्धा और विश्वास के साथ, जो भी जीव [नर] रत होते हैं, वे मानव-जीवन को प्राप्त करने का अपना मतलब सिद्ध कर लेते हैं; परमार्थ के वे ज्ञाता बन जाते हैं; संसार के कषायों

और क्लेशों से क्रमशः शान्त और मुक्त वे नर हो जाते हैं और सभी प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक दुखों का अन्त भी वे अपना कर लेते हैं। क्योंकि, इन प्रवचनों के प्ररूपक भी तो राग-द्वेषादि सम्पूर्ण प्रकार के द्वन्द्वों से रहित और उन से परे होते हैं। वे पापी या धर्मी हो, चाहे ब्राह्मण हो या शूद्र, इन सभी को एकसा अपनाते हैं। छूआछूत का रोग तो, कभी छूकर के भी उन के पास से हो कर नहीं निकलता। चाहे कोई एक सम्राट् हो या कोई कंगाल, अथवा ब्राह्मण हो या शूद्र, प्रवचन करने–कराने का इन सभी के लिए एकसा राज–मार्ग खुला हुआ है। भगवान् महावीर की ओर से, तनिक भी भेदाभेद, इन किसी के लिए नहीं रक्खा जाता है। हमारे इस उपर्युक्त कथन की सचाई में अधिक नहीं; बस, एक ही प्रमाण पर्याप्त होगा। वह इस प्रकार है—

जहा पुण्णस्स कत्थति; तहा तुच्छस्स कत्थति।
जहा तुच्छस्स कत्थति; तहा पुण्णस्स कत्थति॥

आ० १, अ० २, उ० ६,

अर्थात् एक महान् से महान् पुण्याधिकारी सम्राट् या उच्च जातिवाले को, जैन-धर्म के सभी तीर्थंकर, जिस प्रकार का प्रवचन करते आये हैं, ठीक उसी प्रकार का प्रवचन वे एक हीनतमपुण्य वाले कंगाल से कंगाल को भी, फिर चाहे वह शूद्र ही क्यों न हो, करते हैं। और, जैसा प्रवचन शूद्र को वे करते है, उसी प्रकार का एक उच्च वंश में उत्पन्न

होने वाले व्यक्ति को भी वे करते हैं। वहां इस में तनिक भी अन्तर कभी नहीं रक्खा जाता है। इसी के सम्बन्ध में जम्बू स्वामी ने, अपने गुरु धुरन्धर विद्वान् सुधर्मा स्वामी से, एक दिन यों प्रश्न किया था, कि—

कहं च णाणं कहं दंसणं से;
सीलं कहं नायसुतस्स आसी।
जाणासि णं भिक्खु ! जहा तहेणं;
अहा सुतं बूहि जहाणिसंतं॥

सूत्र-कृतांग।

अर्थात्—हे सुधर्मा स्वामी ! जिस प्रकार आत्म-कल्याण सत्य और पवित्र है, उसी प्रकार आत्म-हित के वक्ता भी सदाचार से युक्त होना परम आवश्यकीय है। क्योंकि, बिना सदाचार के सत्य वक्ता वह कभी बन ही नहीं सकता। अतएव हे सुधर्मा स्वामी ! उन परम पावन भगवान् महावीर के आत्म ज्ञान, दर्शन, शील, तथा सदाचार, आदि के सम्बन्ध में आप जो भी कुछ जानते हों, अपने हृदय में करुणा, ला कर, उसे कहने की कृपा करें। क्योंकि, एक तो भगवान् के जन्म-काल से ले कर निर्वाण-पद की प्राप्ति पर्यन्त के, सारे चरित्रों को, आप भली-भांति जानते हैं। दूसरे, आप स्वयं भी ज्ञानादि गुणों के ज्ञाता हैं। तीसरे, अनेकों गुण-गण आज तक श्रवण करने में आप के आये हैं। और चौथे, उन गुणों को श्रवण-रन्ध्रों से केवल श्रवण ही आप ने नहीं किया, वरन्

अवधारण भी आपने उन को भली-भांति किया है। अस्तु।

इस के उत्तर में सुधर्मा स्वामी ने जम्बू स्वामी से कहा-

खेयन्ने से कुसले महेसी; अणंत नाणी य अणंत दंसी।
जसंस्सिणो चक्खु पहेट्टियस्स; जाणाहि धम्मं च धिइं च पेहा॥

सूत्र कृतांग।

अर्थात्—जिस प्रकार दुःख अपनी आत्मा को अप्रिय है और जान पड़ता है, ठीक वैसे ही वह अन्य आत्माओं को भी अप्रिय है। इस प्रकार के ज्ञान को जो भव्य आत्मा अपने हृदय में धारण करने वाला है, वही 'खेदज्ञ' है। महा प्रभु का विशाल हृदय इस खेदज्ञता से सदा सर्वदा लबालब भरा रहता था। दूसरी ओर, लोकालोक तथा आकाश को यथोचित रूप से जानने के कारण वे 'क्षेत्रज्ञ' भी कहलाते थे। इसी तरह, एक ओर जहां वे यथावस्थित आत्म-स्वरूप को जानने से 'आत्मज्ञ' कहलाते, वहां भावांकुश से अष्ट विध कर्मों का क्षय करने में भी 'निपुण' वे थे। तप की आराधना करने में भी अपने समय के वे एक ही थे। यही कारण था, कि जगत् उन्हें 'महर्षि' भी कहता था। फिर, स्वस्थान ही में स्थित हो कर, लोकालोक के अनन्त स्वरूप को हस्तामलकवत्, या हस्त-रेखा के समान, देख और जान वे सकते थे, इसी से 'अनन्त-ज्ञानी' और 'अनन्त-दर्शी' वे थे। उन का यशश्चन्द्र दिशा-विदिशाओं में सदा सर्वदा उस समय छिटक रहा था, उसी समय क्यों, आज भी अपनी निमल आभा को लोक परलोक में छिटक रहा है,

इसी लिए 'यशोधनी' वे कहलाते थे। सभी लोकों के सूक्ष्म तथा असूक्ष्म पदार्थों को देखने में उनका ज्ञान आँख का अति ही अनोखा काम करता था। इस के अतिरिक्त, हे जम्बू! वीर प्रभु के द्वारा प्रतिपादित श्रुत एवं चारित्र-धर्म को संसार रूपी महा-सागर से पार लगानेवाला समझो। और, देखो! संयम मार्ग में उन की अनुपम धीरता, वीरता, सहिष्णुता, सजीवता और अलौकिक प्रसन्न-चित्तता को। येही महावीर, श्रमण, वर्द्धमान और निर्ग्रन्थ, आदि आदि और भी अनेकों पावन नामों से पुकारे गये है। उन्हीं ऐसे निर्ग्रन्थ के प्रवचनों से, आज सभी कौमों तथा सभी अवस्थाओं के जैन-अजैन नर-नारी, सर्वत्र एकसा और सुगमता-पूर्वक लाभ उठा सकें, एक मात्र इसी परम पवित्र उद्देश्य को ले कर, बम्बई, पूना, अहमद-नगर, आदि आदि कई प्रसिद्ध शहरों के तथा गावों के बहु-संख्यक सद्गृहस्थों ने, श्रीमज्जैनाचार्य, शास्त्र-विशारद, बाल-ब्रह्मचारी, पूज्यवर श्री मन्नालालजी महाराज के सम्प्रदायानु-यायी, कविवर, सरल स्वभावी, मुनि श्री हीरालालजी महाराज के सुशिष्य प्रसिद्धवक्ता, पंडित मुनि श्री चौथमलजी महाराज से, कई बार प्रार्थना की, कि यदि आप जैनागमों में से चुन कर कुछ गाथाओं को एक स्थल पर संग्रह कर के, उन का सुबोध तथा सरलातिसरल भाषा में एक हिन्दी अनुवाद भी कर दें, तो जैन-जगत् ही पर नहीं, वरन् अजैन-जनता के साथ भी आप का बड़ा भारी उपकार होगा। यदि इस प्रकार का स्वारस्यपूर्ण सुबोध युक्त एक ग्रन्थ प्रकाशित हो कर जगत्

को मिल जाय, तो जैन-जनता तो उस से यथोचित लाभ उठा-वेगी ही: परन्तु साथ ही इस के, वह जैनेतर जनता भी, जो जैन-साहित्य की बानगी कुछ चख कर, जैनागमों के महा-सागर में गोता लगाना चाहती है, या गोता लगाने के लिए दीर्घ-काल से बड़ी ही लालायित है, उस से किसी क़दर कम लाभ नहीं उठावेगी। इस प्रकार से, उन सद्गृहस्थों के द्वारा समय समय के अत्याग्रह तथा निवेदन के किये जाने पर, उन्हीं प्रसिद्ध वक्ता, पंडित मुनि श्री चौथमलजी महाराज ने, जैनागमों का मन्थन कर, कुछ ऐसी गाथाओं का संग्रह यहां किया, जो जगत् के दैनिक जीवन में प्रति पल हितकारी सिद्ध हों। तदनन्तर उन्हीं संग्रहीत गाथाओं का हिन्दी भाषा में अनुवाद भी उन ने किया। और, मुनि राज के उन्हीं अनुवादित खर्रों पर से, जिसे उन के शिष्य मनोहर व्याख्यानी पण्डित मुनि श्री छगनलालजी महाराज और साहित्य-प्रेमी पंडित मुनि श्री प्यारचंदजी महाराज ने इस ढाल में ढाला। उन खर्रों पर से लिखने में, या किसी प्रकार के दृष्टि-दोष से, अथवा अन्य किसी भी प्रकार की कोई भी भूल इस अनुवाद में पाठकों को कभी जान पड़े, तो कृपया प्रकाशक को उस की सूचना वे अवश्य दे दें। इस प्रकार की सु-सूचना का प्रकाशक के हृदय में सच-मुच में बड़ा ही ऊँचा स्थान होगा। और, यदि बहु सख्यक विद्वानों की राय में वह सूचना आवश्यक और उपादेय जान पड़ी, तो द्वितीयावृत्ति में उस के या उन के अनुसार, उचित

संशोधन भी करने का पूरा पूरा प्रयत्न किया जायगा।

अन्त में, एक निवेदन और है, कि भगवान् की भाषा, जिस में कि उन के प्रवचनों का संग्रह संसार को आज संप्राप्य है, अर्द्ध-मागधी है। जो कि भारतवर्ष के अधिकांश जन साधारण की बोलचाल की भाषा से बिलकुल ही निराली है। फिर, उस के द्वारा आत्म-तत्त्व के बोध को करानेवाला विषय भी स्वयं महान् गूढ़ और गम्भीर है। यह सब कुछ होते हुए भी, प्रस्तुत अनुवाद की भाषा को सरल से भी सरल बनाने का भरसक प्रयत्न किया गया है। हमें पूरी पूरी आशा और विश्वास है, कि पाठकगण इस से यथोचित लाभ उठा कर, हमारे उत्साह को बढ़ाने का सत्प्रयत्न करने की कृपा दिखावेंगे। फक्त ता० १-१-१६३३ ई०

भवदीय

सौभागमल महता — प्रेसिडेण्ट

मास्टर मिश्रीमल — मंत्री

श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति, रतलाम।



॥ णमो सिद्धाणं ॥

निर्ग्रन्थ-प्रवचन ।

॥ श्री भगवानुवाच ॥

नो इंदियग्गेज्झ अमुत्तभावा ।
अमुत्तभावा वि अ होइ निच्चो ॥
अज्झत्थहेउं निययस्स बंधो ।
संसारहेउं च वयंति बंधं ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! यह आत्मा (अमुत्तभावा) अमूर्तिक होने से (इंदियग्गेज्झ) इन्द्रियों द्वारा ग्रहण (नो) नहीं हो सकता है। (अ) और (वि) निश्चय ही (अमुत्तभावा) अमूर्तिमान होने से आत्मा (निच्चो) हमेशा (होइ) रहता है (अस्स) इसका (बंधो) बंध जो है, वह (अज्झत्थहेउं) आत्मा के आश्रित रहे हुए मिथ्यात्व कषायादि हेतु (च) और (बंधं) बंधन को (नियम) निश्चय ही (संसारहेउं) संसार का हेतु (वयंति) कहा है।

भावार्थः हे गौतम ! यह आत्मा अमूर्तिमान् [State of being devoid of colour, smell, taste and touch] अर्थात् वर्ण, गंध, रस, और स्पर्श रहित होने से इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता है। और अरूपी होने से न कोई

इसे पकड़ ही सकता है। और जो अमूर्तमान् अर्थात् अरूपी है, वह हमेशा अविनाशी है । सदा के लिये कायम रहने वाली है। जो शरीरादि से इसका बंधन होता है, वह आत्मा में हमेशा से रहे हुए प्रवाह से मिथ्यात्व अव्रत आदि कषायें (The four moral impurities viz anger, pride, deceit and greed which obscure the spotless Nature of the soul and cause it to wander in the cycle of worldly existence.) का ही कारण है जैसे आकाश अमूर्तमान् है। पर घटादि के कारण से आकाश घटाकाश के रूप में दिख पड़ता है। ऐसे ही आत्मा को भी अनादि काल के प्रवाह से मिथ्यात्वादि के कारण, शरीर के बंधन रूप में समझना चाहिए। और यही बंधन संसार में परिभ्रमण करने का साधन है।

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कुडसामली ।
अप्पा काम दुहाधेणु, अप्पा मे नंदणं वणं ॥ २ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (अप्पा) यह आत्मा ही (वेयरणी) वैतरणी (नई) नदी के समान है (मे) मेरी (अप्पा) आत्मा (कुडसामली) कुटशाल्मली के वृक्ष रूप है। और यही (अप्पा) आत्मा (काम दुहा) काम दुधा रूप (धेणु) गाय है । और यही मेरी (अप्पा) आत्मा (नंदणं) नंदन (वणं) वन के समान है।

भावार्थः--हे गौतम ! यही आत्मा (Soul) वैतरणी नदी के समान है। अर्थात् इसी आत्मा को अपने कृत्य कार्यों

से वैतरणी नदी में गोता खाने का मौका मिलता है। वैतरणी नदी का कारण भूत यह आत्मा ही है। इसी तरह यह आत्मा नरक में रहे हुए कुटशाल्मली वृक्ष के द्वारा होने वाले दुखों की कारण भूता है। और यही आत्मा अपने शुभ कृत्यों के द्वारा कामदुग्धा गाय के समान है, अर्थात् इच्छित सुखों की प्राप्ति कराने में यही आत्मा काम दुग्धा धेनु के समान कारण भूता है। और यही आत्मा नंदनवन के समान है। अर्थात् स्वर्ग और मुक्ति के सुख सम्पन्न कराने में अपने आप ही स्वाधीन है।

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः—हे ! इन्द्रभूति (अप्पा) यह आत्मा ही (दुहाण) दुखों की (य) और (सुहाण) सुखों की (कत्ता) उत्पन्न करने वाली (य) और (विकत्ता) नाश करने वाली है। (अप्पा) यह आत्मा ही (मित्तं) मित्र है (च) और (अमित्तं) शत्रु है। और यही आत्मा (दुप्पट्ठिय) दुराचारी और (सुपट्ठिओ) सदाचारी है।

भावार्थः—हे गौतम ! यही आत्मा दुखों एवं सुखों के साधनों का कर्त्ता रूप है। और उन्हें नाश करने वाली भी यही आत्मा है। यही शुभ कार्य करने से मित्र के समान है और अशुभ कार्य करने से शत्रु के सदृश हो जाती है। सदाचार का सेवन करने वाली और दुष्ट आचार में प्रवृत्त होने वाली भी यही आत्मा है।

न तं अरी कंठछित्ता करोति।
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा॥
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते।
पच्छाणुतावेण दयाविहूणो॥ ४॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति! (से) वह (अप्पणिया) अपनी (दुरप्पा) दुराचरणशील आत्मा ही है जो (जं) उस अनर्थ को (करे) करती है। (तं) जिसे (कंठछित्ता) कंठका छेद न करने वाला (अरी) शत्रु भी (न) नहीं (करोति) करता है (तु) परन्तु (से) वह (दयाविहूणो) दयाहीन दुष्टात्मा (मच्चुमुहं) मृत्यु के मुंह में (पत्ते) प्राप्त होने पर (पच्छाणुतावेण) पश्चाताप करके (नाहिई) अपने आप को जानेगा।

भावार्थः--हे गौतम! यह दुष्टात्मा जैसे जैसे अनर्थों को कर बैठती है वैसे अनर्थ एक शत्रु भी नहीं कर सकता है। क्योंकि शत्रु तो एक ही बार अपने शस्त्र से दूसरों के प्राण हरण करता है परन्तु यह दुष्टात्मा तो ऐसा अनर्थ कर बैठती है कि जिसके द्वारा अनेक जन्मजन्मातरों तक मृत्यु का साम्हना करना पड़ता है। फिर दयाहीन उस दुष्टात्मा को मृत्यु के समय पश्चाताप करने पर अपने कृत्य कार्यों का भान होता है कि अरे हा! इस आत्मा ने कैसे कैसे अनर्थ कर डाले हैं।

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमा।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य॥ ५॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (अप्पा) आत्मा (चेव) ही (दमेयव्वो) दमन करने योग्य है। (हु) क्योंकि (अप्पा) आत्मा (खलु) निश्चय (दुद्दमो) दमन करने में कठिन सी है। तभी तो (अप्पा) आत्मा को (दंतो) दमन करता हुआ (अस्सिं) इस (लोए) लोक (य) और (परत्थ) परलोक में (सुही) सुखी (होइ) होता है।

भावार्थः--हे गौतम ! क्रोधादि के वशीभूत होकर आत्मा उन्मार्ग-गामी होती है। उसे दमन करके अपने काबू में करना योग्य है। क्योंकि निर्जा आत्मा को दमन करना अर्थात् विषय वासनाओं से उसे पृथक् करना महान् कठिन है और जब तक आत्मा को दमन न किया जाय तब तक उसे सुख नहीं मिलता है। इसलिए हे गौतम ! आत्मा को दमन कर, जिस से इस लोक और परलोक में सुख प्राप्त हो।

वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य ।
माहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहिय ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! आत्माओं को विचार करना चाहिए कि (मे) मेरे द्वारा (संजमेण) संयम (य) और (तवेण) तपस्या करके (अप्पा) आत्मा का (दंतो) दमन करना (वरं) प्रधान कर्त्तव्य है। नहीं तो (हं) मैं (परेहिं) दूसरों द्वारा (बंधणेहिं) बन्धनों करके (य) और (वहेहिं) ताड़ना करके (दम्मंतो) दमन (मा) कहीं न हो जाऊं।

भावार्थः--हे गौतम ! प्रत्येक आत्माओं को विचार करना

चाहिए कि मेरी ही आत्मा द्वारा संयम और तप करके आत्मा को वश में करना श्रेष्ठ है। अर्थात् स्ववश आत्मा को दमन करना श्रेष्ठ है। नहीं तो फिर विषय वासना-सेवन के बाद कहीं ऐसा न हो कि उस के फल उदय होने पर इसी आत्मा को दूसरों के द्वारा बंधन आदि से अथवा लकड़ी, चाबुक, भाला बरछी आदि के घाव सहने पड़े।

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जो) जो कोई मनुष्य (दुज्जए) जीतने में कठिन ऐसे (संगामे) संग्राम में (सहस्साणं) हजार का (सहस्सं) हजार गुणा अर्थात् दश लक्ष सुभटों को जीत ले उस से भी बलवान (एगं) एक (अप्पाणं) अपनी आत्मा को (जिणेज्ज) जीते (एस) यह (से) उसका (जओ) जीतना (परमो) उत्कृष्ट है।

भावार्थः--हे गौतम ! जो मनुष्य युद्ध में दश लक्ष सुभटों को जीत ले उस से भी कहीं वह अधिक विजय का पात्र है जो अपनी आत्मा में स्थित काम, क्रोध मद, लोभ मोह और माया आदि विषयों के साथ युद्ध करके और इन सभी को पराजय कर अपनी आत्मा को काबू में कर ले।

अप्पाणमेव जुज्झाहि; किं ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पाणमेव अप्पाणं; जइत्ता सुहमेहए ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (अप्पाणमेव) आत्मा के साथ ही (जुज्झाहि) युद्ध कर (ते) तुझे (बज्झओ)

दूसरों के साथ (जुज्झेण) युद्ध करने से (किं) क्या पड़ा है ? (अप्पाणमेव) अपनी आत्मा ही के द्वारा (अप्पाणं) आत्मा को (जइत्ता) जीतने से (सुहं) सुख को (एहए) प्राप्त होता है।

भावार्थः--हे गौतम ! अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध करके क्रोध, मद, मोहादि पर विजय प्राप्त कर। दूसरों के साथ युद्ध करने से प्रत्युत कर्म बंध के सिवाय आत्मिक लाभ कुछ भी नहीं होता। अतः अपनी आत्मा द्वारा अपने ही मन को जीत लेने पर उसे सुख प्राप्त होता है।

पंचिंदियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोभं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (दुज्जयं) जीतने में कठिन ऐसे (पंचिंदियाणि) पाँचों इन्द्रियों के विषय (कोहं) क्रोध (माणं) मान (मायं) कपट (तहेव) वैसे ही (लोभं) तृष्णा (चेव) और भी मिथ्यात्व अव्रतादि (च) और (अप्पाणं) मन ये (सव्वं) सर्व (अप्पे) आत्मा को (जिए) जीतने पर (जियं) जीते जाते हैं।

भावार्थ--हे गौतम ! जो भी पाचों इन्द्रियों के विषय और क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मन ये सब के सब दुर्जयी हैं। तथापि अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त करलेने से इन पर अनायास में ही विजय प्राप्त की जा सकती है।

सरीरमाहु नाव त्ति; जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो; जं तरंति महेसिणो ॥१०॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति! यह(संसारो)संसार(अण्णवो) समुद्र के समान(वुत्तो)कहा गया है। इस में (सरीरं) शरीर (नाव)नौका के सदृश है। (आहु त्ति)ऐसा ज्ञानी जनों ने कहा है। और उस में(जीवो)आत्मा(नाविओ)नाविक के तुल्य बैठ कर तिरने वाला है। (वुच्चइ) ऐसा कहा गया है। अतः(जं) इस संसार समुद्र को (महेसिणो)ज्ञानी जन (तरंति)तिरते हैं।

भावार्थः-हे गौतम! इस संसार रूप समुद्र के परले पार जाने के लिए यह शरीर नौका [A boat] के समान है जिस में बैठ कर आत्मा नाविक रूप हो कर संसार समुद्र को पार करती है।

नाणं च दंसणं चेव; चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य; एयं जीवस्स लक्खणं ॥११॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (नाणं)ज्ञान(च)और(दंसणं) दर्शन(चेव)और(चरित्तं) चारित्र (च) और(तवो)तप(तहा) तथा प्रकार की(वीरियं)सामर्थ्य(य)और(उवओगो)उपयोग (एयं)यही(जीवस्स)आत्मा का(लक्खणं)लक्षण है।

भावार्थः-हे गौतम! ज्ञान, दर्शन, तप, क्रिया [Liking for, desire for kriya, i.. e. religious performance] और सावधानीपन, उपयोग ये सब जीव[आत्मा]के लक्षण हैं।

जीवाऽजीवा य बंधो य पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो, संतए तहिया नव ॥१२॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (जीवाऽजीवाय) चेतन और जड़ (य)और(बंधो)कर्म(पुण्णं)पुण्य(पावासवो)पाप और आश्रव (तहा) तथा (संवरो) संवर (निज्जरा) निर्जरा (मोक्खो) मोक्ष (एए) ये (नव) नौ पदार्थ (तहिया) तथ्य (संति) कहलाते हैं ।

भावार्थः--हे गौतम ! **जीव** [Soul] **जड़** [devoid-of common sense] अर्थात् चेतना रहित, **बंध** [The-relation of the soul and karma,] अर्थात् जीव और कर्म का मिलना। **पुण्य** [Merit that results from good deeds and which leads to happiness] शुभ कार्यों द्वारा संचित शुभ कर्म। **पाप** [sin, karmic-bond due to wicked deeds] अर्थात् दुष्कृत्य जन्य कर्म बंध । **आश्रव** [A door, a sluice for the inflow of Karma]अर्थात् कर्म आने का द्वार। **संवर** [the stopping of the inflow of Karmic matter] आते हुए कर्मों का रूकना। **निर्जरा** [Decay or destruction of Karmas] अर्थात् एक देश कर्मों का क्षय होना। **मोक्ष** [Salvation] अर्थात्-सम्पूर्ण पाप पुण्यों से छूट जाना । एकान्त सुख के भागी होना मोक्ष है।

धम्मो अहम्मो आगासं कालो पोग्गलजंतवो ।
एस लोगु त्ति पण्णत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ--हे इन्द्रभूति !(धम्मो)धर्मास्तिकाय(अहम्मो)

अधर्मास्तिकाय (आगासं) आकाशास्तिकाय (कालो) समय (पोग्गलजंतवो) पुद्गल और जीव (एस) ये छः ही द्रव्य वाला (लोगुत्ति) लोक है। ऐसा (वरदंसिहिं) केवल ज्ञानी (जिणेहिं) जिनेश्वरों ने (पण्णत्तो) कहा है।

भावार्थः--हे गौतम ! **धर्मास्तिकाय** [A substance which is the medium of motion to soul and which contains innumerable atoms of space pervades the whole universe and has no fulcrum of motion] अर्थात् जीव और जड़ पदार्थों को गमन करने में सहाय्य भूत हो। **अधर्मास्ति काय** [One of the six Dravyas or substances which is a medium of rest to soul and matter] अर्थात् जीव और अजीव पदार्थों की गति को अवरोध करने में कारण भूत एक द्रव्य है। और आकाश, समय, जड़ और चेतन इन छः द्रव्यों को ज्ञानियों ने लोक कह कर पुकारा है।

धम्मो अहम्मो आगासं; दव्वं इक्किक्कमाहियं ।
अणंताणि य दव्वाणिय; कालो पुग्गलजंतवो ॥१४॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (धम्मो)धर्मास्ति काय (अहम्मो) अधर्मास्ति काय (आगासं) आकाशास्ति काय (दव्वं) इन द्रव्यों को (इक्किक्कं) एक एक द्रव्य (आहियं) कहा है (य) और (कालो) समय (पुग्गलजंतवो) पुद्गल एवं जीव इन द्रव्यों को (अणंताणि) अनंत कहे हैं।

भावार्थः--हे शिष्य ! धर्मास्ति काय अधर्मास्ति काय और आकाशास्तिकाय [A substance in which all things exist or reside) अर्थात् प्रत्येक वस्तु को अवकाश देने वाला द्रव्य, ये तीनों एक एक द्रव्य हैं। जिस प्रकार आकाश के टुकड़े नहीं होते; वह एक अखण्ड द्रव्य है, ऐसे ही धर्मास्ति, अधर्मास्ति भी एक एक ही अखण्ड द्रव्य है और पुद्गल (A material molecule having colour, smell taste, and touch, one of the six substances) अर्थात्-वर्ण, गंध, रस, स्पर्श वाला एक मूर्त द्रव्य तथा जीव और [अतीत व अनागत की अपेक्षा] समय ये तीनों अनंत द्रव्य माने गये हैं।

गइलक्खणो उ धम्मो; अहम्मो ठाणलक्खणो ।
भायणं सव्वदव्वाणं; नहं ओगाहलक्खणं ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (गइलक्खणो) गमन करने में सहायता देने का लक्षण है जिसका, उसको (धम्मो) **धर्मास्ति काय** कहते हैं। (ठाणलक्खणो) ठहरनेमें मदद देने का लक्षण है जिसका, उसको (अहम्मो) **अधर्मास्तिकाय** कहते हैं। और (सव्वदव्वाणं) सर्व द्रव्यों को (भायणं) आश्रय रूप (ओगाहलक्खणं) अवकाश देने का लक्षण है जिसका, उसको (नहं) **आकाशास्ति काय** कहते हैं।

भावार्थः--हे गौतम ! जो जीव और जड़ द्रव्यों को गमन करने में सहाय्य भूत हो उसे धर्मास्तिकाय कहते हैं। और जो

ठहरने में सहाय्य भूत हो उसे अधर्मास्तिकाय कहते हैं। और पाचों द्रव्यों को जो आधार भूत हो कर अवकाश दे उसे आकाशास्तिकाय कहते हैं।

वत्तणालक्खणो कालो; जीवो उवओगलक्खणं ।
नाणेणं दंसणेणं च; सुहेण य दुहेण य ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (वत्तणालक्खणो) वर्तना है लक्षण जिसका उस को (कालो) समय कहते हैं (उवओग-लक्खणं) उपयोग लक्षण है जिसका उसको (जीवो) आत्मा कहते हैं। उस की पहचान है (नाणेणं) ज्ञान (च) और (दंसणेणं) दर्शन(य) और (सुहेणं) सुख (य) और(दुहेणं) दुख का अनुभव करना।

भावार्थः--हे शिष्य ! जीव और पुद्गल मात्र के पर्याय बदलने में जो सहायक होता है उसे काल कहते है। ज्ञानादि का एकांश या विशेषांश जिस में हो वही जीवास्तिकाय है। जिस में उपयोग अर्थात् ज्ञानादि न सम्पूर्ण ही है और न अंश मात्र भी है, वह जड़ पदार्थ है। क्योंकि जो आत्मा है, वह सुख, दुख, ज्ञान, दर्शन का अनुभव करती है। इसी से इसे आत्मा कहा गया है और इन कारणों से ही आत्मा की पहचान मानी गई है।

सद्दंधयारउज्जोओ, पहा छायाऽऽतवेइ वा ।
वण्णरसगंधफासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥ १७ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति! (सद्दंधयार) शब्द, अन्धकार (उज्जोओ) प्रकाश (पहा) प्रभा (छायाऽऽतेवइ) छाया, धूप आदि ये (वा) अथवा (वण्णरसगंधफासा) वर्ण रस, गंध, स्पर्शादिकको (पुग्गलाणं) पुद्गलों का (लक्खणं) लक्षण कहा है। (तु) पाद पूर्ति।

भावार्थः--हे गौतम! पुद्गलों का लक्षण यही है कि शब्द, अन्धकार, रत्नादिक का प्रकाश, चन्द्रादिक की कांति, शीतलता, छाया, धूप आदि ये सब कुछ और पांचों वर्णादिक, सुगंध, दुर्गंध, पाचों रसादिक और आठों स्पर्शादिकों को ही पुद्गल माना गया है।

एगत्तं च पुहत्तं च, संखा संठाण मेव य।
संजोगा य विभागाय, पज्जवाणं तु लक्खणं ॥१८॥

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति! (पज्जवाणं) पर्यायों का (लक्खणं) लक्षण यह है, कि (एगत्तं) एक पदार्थ के ज्ञान का (च) और (पुहत्तं) उस से भिन्न पदार्थ के ज्ञान का (च) और (संखा) संख्या का (य) और (संठाणमेव) आकार प्रकार का (संजोगा) एक से दो मिले हुओं का (य) और (विभागाय) यह इस से अलग है, ऐसा ज्ञान जो करावे वही पर्याय है।

भावार्थः--हे! गौतम! पर्याय उसे कहते हैं, कि यह अमुक पदार्थ है, यह उस से अलग है, यह अमुक संख्या वाला है, इस आकार प्रकार का है, यह इतने समूह रूप में

है, आदि ऐसा जो ज्ञान करावे वही पर्याय [modification of qualities and substance] है। अर्थात् जैसे यह मिट्टी थी पर अब घट के पर्याय रूप में है। यह घट उस घट से पृथक् रूप में है। यह घट संख्या बद्ध है। पहले नम्बर का है या दूसरे नम्बर का है। यह गोल आकार का है। यह चौरस आकार का है। यह दो घट का समूह है। यह घट उस घट से भिन्न है। आदि ऐसा ज्ञान जिस के द्वारा हो वही पर्याय है।

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

अध्याय दूसरा।

॥ भगवानुवाच ॥

अट्ठ कम्माइं वोच्छामि, आणुपुव्विं जहक्कमं।
जेहिं बद्धो अयं जीवो, संसारे परियत्तइ ॥ १ ॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति! (अट्ठ) आठ (कम्माइं) कर्मों को (जहक्कमं) यथाक्रम से (आणुपुव्विं) क्रमवार (वोच्छामि) कहता हूं, सो सुनो। क्योंकि (जेहिं) उन्हीं कर्मों से (बद्धो) बंधा हुआ (अयं) यह (जीवो) जीव (संसारे) संसार में (परियत्तइ) परिभ्रमण करता है।

भावार्थः–हे गौतम! जिन कर्मों करके यह आत्मा संसार में परिभ्रमण करती है, जिन के द्वारा संसार का अन्त नहीं होता है, वे कर्म आठ प्रकार के होते हैं। मैं उन्हें क्रमपूर्वक और उनके स्वरूप के साथ कहता हूं।

नाणस्सावरणिज्जं; दंसणावरणं तहा।
वेयणिज्जं तहा मोहं; आउकम्मं तहेव य ॥२॥
नाम कम्मं च गोयं च; अंतरायं तहेव य।
एवमेयाइ कम्माइं; अट्ठेव उ समासओ ॥३॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति! (नाणस्सावरणिज्जं) ज्ञानावरणीय (तहा) तथा (दंसणावरणं) दर्शनावरणीय (तहा)

तथा (वेयणिज्जं) वेदनीय (मोहं) मोहनीय (तथैव) वैसेही (आउकम्मं) आयुष्कर्म (च) और (नामकम्मं) नाम कर्म (च)और (गोहं) गोत्र कर्म(य)और(तहेव) वैसे ही (अन्तरायं) अन्तराय कर्म (एवमेयाइ) इस प्रकार ये (कम्माइं) कर्म (अट्ठेव) आठ ही (समासओ) संक्षेप से ज्ञानी जनोंने कहे हैं। (उ) पादपूर्ति अर्थ में।

भावार्थः-हे गौतम ! जिस के द्वारा बुद्धि एवं ज्ञान की न्यूनता हो, अर्थात् ज्ञान वृद्धि में बाधा रूप जो हो उसे ज्ञानावरणीय [The first of the eight kinds of Karmas Viz that which obscures or checks the power of acquirng knowledge] (अर्थात् ज्ञान शक्ति को दबाने वाला) कर्म कहते हैं। पदार्थ को साक्षात्कार करने में जो बाधा डाले, उसे दर्शनावरणीय कर्म कहा गया है। आत्मिक और अटल सुखों में जो धक्का पहुंचावें, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। जन्म मरण में जो सहायभूत हो वह आयुष्कर्म माना गया है। अगरु लघु आदि गुण प्रकट होने में जो सहाय्यभूत हो वह नाम कर्म है। जीव को अमूर्तिमान् अर्थात् शरीर रहित होने में बाधक रूप जो हो, वह गोत्र कर्म कहलाता है। जीव की अनंत शक्ति प्रकट होने में जो बाधक रूप हो वह अन्तराय कर्म कहलाता है। इस प्रकार ये आठों ही कर्म इस जीव को चौरासी की चक्रफेरी में डाल रहे हैं।

नाणावरणं पंचविहं; सुयं आभिणिबोहियं।
ओहिनाणं तइयं; मणनाणं च केवलं ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (नाणावरणं) ज्ञानावरणीय कर्म (पंचविहं) पांच प्रकार का है ।(सुयं) श्रुतज्ञानावरणीय (आभिणिबोहियं) मतिज्ञानावरणीय (तइयं) तीसरा (ओहिनाणं) अवधिज्ञानावरणीय (च) और (मणनाणं) मनः पर्यव ज्ञानावरणीय (च) और (केवलं) केवल ज्ञानावरणीय।

भावार्थ--हे गौतम ! अब ज्ञानावरणीय कर्म के पांच भेद कहते हैं। सो सुनो ।(१) **श्रुतज्ञानावरणीय** कर्म-जिस के द्वारा श्रवण शक्ति आदि में न्यूनता हो। (२) **मतिज्ञानावरणीय** मन की शक्ति का कम होना ३ **अवधिज्ञानावरणीय**—जिस के द्वारा परोक्ष की बातें जानने में न आवें (४) **मनः पर्यव ज्ञानावरणीय**—दूसरों के मन की बात जानने में शक्ति हीन होना (५) **केवल ज्ञानावरणीय**—संपूर्ण पदार्थों के जानने में असमर्थ होना। ये सब ज्ञानावरणीय कर्म के फल हैं।

हे गौतम ! अब ज्ञानावरणीय कर्म बंधने का कारण बताते हैं, सो सुनो (१) ज्ञानी के द्वारा बताये हुए तत्त्वों को असत्य बताना, तथा उन्हें असत्य सिद्ध करने की चेष्टा करना (२) जिस ज्ञानी के द्वारा ज्ञान प्राप्त हुआ है उसका नाम तो छिपा देना और मैं स्वयं ज्ञानवान् बना हूँ ऐसा वातावरण फैलाना (३) ज्ञान की असारता दिखलाना कि इस में पड़ा ही क्या है ? आदि कह कर ज्ञान एवं ज्ञानी की अवज्ञा करना। (४) ज्ञानी से द्वेष भाव रखते हुए कहना कि वह पढ़ा ही क्या है ? कुछ नहीं। केवल ढोंगी होकर ज्ञानी

होने का दम भरता है, आदि कहना (५) जो कुछ सीख पढ़ रहा हो उसके काम में बाधा डालने में हर तरह से प्रयत्न करे (६) ज्ञानी के साथ अण्ट सण्ट बोल कर व्यर्थ का झगड़ा करना। आदि आदि कारणों से ज्ञानावरणीय कर्म बंधता है।

निद्दा तहेव पयला; निद्दानिद्दा य पयलापयला य।
तत्तो अ थीणगिद्धी उ; पंचमा होइ नायव्वा ॥ ५ ॥

चक्खुमचक्खु ओहिस्स; दंसणे केवले अ आवरणे।
एवं तु नव विगप्पं; नायव्वं दंसणावरणं ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (निद्दा) सुख से जागना (तहेव) वैसे ही (पयला) बैठे बैठे ऊंघना (य) और (निद्दानिद्दा) कठिनता से जागना (य) और (पयलापयला) चलते चलते ऊंघना (तत्तो अ) और इसके बाद (पंचमा) पांचवीं (थीणगिर्द्धी उ) स्त्यानगृद्धि (होइ) है, ऐसा (नायव्वा) जानना (चक्खुमचक्खु ओहिस्स) चक्षु, अचक्षु, अवधि के (दंसणे) दर्शन में (य) और (केवले) केवल में (आवरणे) आवरण (एवं तु) इस प्रकार (नव विगप्पं) नौ भेदों से (दंसणावरणं) दर्शनावरणीय कर्म को (नायव्वं) जानना चाहिए।

भावार्थः—हे गौतम! अब दर्शनावरणीय कर्म के भेद बतलाते हैं, सो सुनो (१) अपने आप ही नियत समय पर निंद्रा से मुक्त होना (२) बैठे बैठे, ऊंघना अर्थात नींद लेना (३) नियत समय पर भी कठिनता से जागना (४) चलते फिरते ऊंघना और (५) पांचवां भेद यह है कि

सोये बाद छः मास बीत जाना, ये सब दर्शनावरणीय कर्म के फल हैं। इसके सिवाय चक्षु में दृष्टिमान्द्य या अन्धेपन आदि प्रकार की हीनता का होना तथा सुनने की, सूँघने की, स्वाद लेने की, स्पर्श करने की, शक्ति में हीनता, मनः द्वारा अवधिदर्शन होने में और केवल दर्शन अर्थात् सारे जगत को हाथ की रेखा के समान देखने में रूकावट का आना ये सब के सब नौ प्रकार के दर्शनावरणीय कर्म के फल हैं। हे आर्य ! जब आत्मा दर्शनावरणीय [The-conation obscuring Karma] कर्म बांध लेता है तब वह जीव ऊपर कहे हुए फलों को भोगता है। अब हम यह बतावेंगे कि जीव किन कारणों से दर्शनावरणीय कर्म बांध लेता है। सो सुनो—(१) जिस को अच्छी तरह से दीखता है उसे भी अन्धा और काना कह कर उस के साथ विरुद्धता करना (२) जिस के द्वारा अपने नेत्रों को फायदा पहुंचा हो और न देखने पर भी उस पदार्थ का सच्चा ज्ञान हो गया हो उस उपकारी के उपकार को भूल जाना (३) जिसके पास चक्षु ज्ञान से परे अवधिज्ञान है, जिस अवधिदर्शन से वह कई भव अपने एवं औरों के देख लेता है। उसकी अवज्ञा करते हुए कहना कि, क्या पड़ा है ऐसे अवधिज्ञान में ? (४) जिस के दुखते हुए नेत्रों के अच्छे होने में वा चक्षु दर्शन से भिन्न अचक्षु के द्वारा होने वाला दर्शन में और अवधि दर्शन के प्राप्त होने में एवं सारे जगत् को हस्तामलकवत् देखने वाले ऐसे केवल दर्शन प्राप्त करने में रोड़ा अटकाना (५) जिसको नहीं दिखता है, या कम दिखता है, उसे कहे कि इस धूर्त को अच्छा दिखता है तो भी अन्धा बन ठौब है। चक्षु दर्शन से भिन्न अचक्षु दर्शन का जिसे अच्छा

बोध नहीं होता हो उसे कहे कि जान बूझ कर मूर्ख बन रहा है। और जो अवधि दर्शन से भव भवान्तर के कर्त्तव्यों को जान लेता है उसको कहे कि ढोंगी है। एवं केवल दर्शन से जो प्रत्येक बात का स्पष्टीकरण करता है उसे असत्य वादी कह कर जो दर्शन के साथ द्वेष भाव करता है। (६) इसी प्रकार चक्षुदर्शनीय, अचक्षुदर्शनीय, अवधिदर्शनीय एवं केवल दर्शनीय के साथ जो टण्टा करता है।

वेयणीयं पि अ[1] दुविहं, सायमसायं च आहियं।
सायस्स उ बहू भेया; एमेव आसायस्स वि ॥७॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (वेयणीयं पि) वेदनीय कर्म भी (सायमसायं च) साता और असाता (दुविहं) यों दो प्रकार के (आहियं) कहे गये हैं। (सायस्स) साता के (उ) तो (बहू) बहुत से (भेया) भेद है। (एमेव असायस्सा वि) इसी प्रकार असाता वेदनीय के भी अनेक भेद हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! फुंसी, फोड़े, ज्वर नेत्रशूल आदि अन्य चिंता ये सब शारीरिक और मानसिक वेदना असाता-वेदनीय कर्म के फल हैं। इसी तरह निरोग रहना, चिन्ता फिक्र कुछ भी नहीं होना ये सब शारीरिक और मानसिक सुख साता-वेदनीय कर्म के फल हैं। हे गौतम ! यह जीव साता और असाता वेदनीय कर्मों को किन किन कारणों से

१-अ पाद पूर्त्यर्थम।

बांध लेता है, सो अब सुनो-धन सम्पत्ति आदि ऐहिक सुख प्राप्ति होने का कारण सातावेदनीय का बँन्धन है। यह साता वेदनीय बँन्धन इस प्रकार बँधता है-दो इन्द्रियवाले लट गिण्डोरे आदि, तीन इन्द्रियवाले चींटियें, मकोड़े जूँ आदि, चार इन्द्रियवाले मक्खी, मच्छर, भौंरे आदि पांच इन्द्रियवाले हाथी, घोड़े, बैल, ऊँट, गाय, बकरी आदि तथा वनस्पति स्थित जीव और पृथ्वी, पानी, आग, वायु इन स्थावर जीवों की अनुकम्पा करने से तथा इन जीवों को किसी प्रकार से कष्ट और सोच नहीं पहुँचाने से एवं इन को झुराने तथा अश्रुपात न कराने से, लात घुसादि से न पीटने से परितापना न देने से, इनका विनाश न करने से सातावेदनीय का बँध होता है।

शारीरिक और मानसिक जो दुःख होता है, वह इन कारणों से होता है-दूसरों को दुख देने से, सोच उत्पन्न करने से झुराने से, अश्रुपात कराने से दूसरों को, पीटने से, परिताप देने से, प्राण, भूत, जीव, और सत्व इन चारों ही प्रकार के जीवों को दुःख देने से, फिक्र उत्पन्न कराने से झुराने से अश्रुपात कराने से, पीटने से परिताप व कष्ट उत्पन्न कराने से असाता वेदनीय का बंध होता है।

मोहणिज्जं पि दुविहं, दंसणे चरणे तहा।
दंसणे तिविहं वुत्तं, चरणे दुविहं भवे॥ ८॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति! (मोहणिज्जं पि) मोहनीय कर्म भी (दुविहं) दो प्रकार का है। (दंसणे) दर्शन मोहनीय (तहा) तथा (चरणे) चारित्र मोहनीय। अब (दंसणे)

दर्शन मोहनीय कर्म (तिविहं) तीन प्रकार का (वुत्तं) कहा गया है । और (चरणे) चारित्र मोहनीय (दुविहं) दो प्रकार का (भवे) होता है ।

भावार्थः--हे गौतम ! मोहनीय कर्म जो जीव बांध लेता है उसको अपने आत्मीय गुणों का भान नहीं रहता है। जैसे मदिरा पान करने वाले को कुछ भान नहीं रहता। उसी तरह मोहनीय कर्म के उदय रूप में जीव को शुद्ध श्रद्धा और क्रिया की तरफ भान नहीं रहता है। यह कर्म दो प्रकार का कहा गया है । एक दर्शन मोहनीय दूसरा चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के तीन प्रकार और चारित्र मोहनीय के दो प्रकार होते हैं।

सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं, सम्मामिच्छत्तमेव य ।
एयाओ तिण्णि पयडीओ; मोहणिज्जस्स दंसणे ॥६॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (मोहणिज्जस्स) मोहनीय संबंध के (दंसणे) दर्शन मे अर्थात् दर्शन मोहनीय में (एयाओ) ये (तिण्णि) तीन प्रकार की (पयडीओ) प्रकृतियां हैं (सम्मत्तं) सम्यक्त्व मोहनीय (मिच्छत्तं) मिथ्यात्व मोहनीय (य) और (सम्मामिच्छत्तमेव) समभिथ्यात्व मोहनीय ही हैं।

भावार्थः--हे गौतम ! दर्शन मोहनीय कर्म तीन प्रकार का होता है। एक तो सम्यक्त्व मोहनीय-इस के उदय में जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति तो हो जाती है, परन्तु मोहवशे ऐहिक

सुख के लिए तीर्थंकरों [A founder of four Thirthas viz monks, nuns lay men, lay women) की माला जपता रहता है यह सम्यक्त्व मोहनीय कर्म का उदय है। यह कर्म जब तक बना रहता है तब तक उस जीव के मोक्ष के साक्षि ध्यकारी क्षायिक गुण को रोक रखता है। और दूसरा मिथ्यात्वमोहनीय है। इस के उदय काल में जीव सत्य को असत्य और असत्य को सत्य समझता है। और इसी लिए वह जीव चौरासी का अन्त नहीं पा सकता। चौदवें गुणस्थान (The 14 stages including false belief etc) पर जीव की मुक्ति होती है। पर यह मिथ्यात्व मोहनीय कर्म जीव को दूसरे गुणस्थान पर भी पैर नहीं रखने देता। तब फिर तीसरे और चौथे गुण स्थान को तो बात ही निराली है। इसका तीसरा भेद समामिथ्यात्व मोहनीय है। इस के उदय काल में जीव सत्य असत्य दोनों को बराबर समझता है। जिससे हे गौतम! यह आत्मा न तो समदृष्टि की श्रेणि में है और न यथार्थ ग्रहस्थ धर्म का ही पालन कर सकती है अर्थात् यह कर्म जीव को तीसरे गुण स्थान के ऊपर देखने तक का भी मौका नहीं देता है। हे गौतम! अब हम चारित्र मोहनीय के भेद कहते हैं, सो सुनो—

चारित्तमोहणं कम्मं, दुविहं तु विआहियं।
कसायमोहणिज्जं तु, नोकसायं तहेव य ॥ १० ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (चारित्तमोहणं) चारित्र मोहनीय (कम्मं) कर्म (दुविहं) दो प्रकार का (विआहियं) कहा गया है। (कसायमोहणिज्जं) क्रोधादि रूप

भोगने में आवे वह (य) और (तहेव) वैसे ही (नोकसायं) क्रोधादि के सहचारी हास्यादिक के रूप में जो अनुभव में आवे ।

भावार्थः--हे गौतम ! संसार के सम्पूर्ण वैभव को त्यागना चारित्र धर्म कहलाता है, उस चारित्र के अङ्गीकार करने में रोड़ा अटकाता है उसे चारित्र मोहनीय (Any thing that checks or kinders righ conduct) कहते हैं । यह कर्म दो प्रकार का है । एक तो क्रोधादि रूप में अनुभव आता है । अर्थात् हंसना, भोगों में आनंद मानना, धर्म में नाराजी आदि होना वह इस कर्म का उदय है ।

> सोलसविहभेएणं; कम्मं तु कसायजं ।
> सत्तविहं नवविहं वा; कम्मं नोकसायजं ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (कसायजं) क्रोधादिक रूप से उत्पन्न होनेवाला (कम्मं तु) कर्म तो (भेएणं) भेदों करके (सोलसविह) सोलह प्रकार का है । और (नोकसायजं) हास्यादि से उत्पन्न होने वाला जो (कम्मं) कर्म है वह (सत्तविहं) सात प्रकार का (वा) अथवा (नवविहं) नौ प्रकार का माना गया है ।

भावार्थः-हे गौतम ! क्रोधादि से उत्पन्न होने वाले कर्म के सोलह भेद हैं । अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, यों अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वल के चार भेदों के साथ इसके सोलह भेद हो जाते है । और नोकसाय से उत्पन्न होने वाले कर्म के सात अथवा नौ भेद कहे गये

है। वे यों है। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा और वेद यों सात भेद होते है और वेद के उत्तर भेद लेने से नो भेद हो जाते हैं। अत्यन्त क्रोध, मान, माया, और लोभ करने से तथा मिथ्या श्रद्धा में रत रहने से और अव्रती रहने से मोहनीय कर्म का बंध होता है।

हे गौतम! अब हम आयुष्यकर्म (The Karma by the rise of which a soul has to finish a life period) का स्वरूप बतलावेंगे।

नेरइयतिरिक्खाउं, मणुस्साउं तहेव य।
देवाउअं चउत्थं तु; आउकम्मं चउव्विहं॥ १२॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति! (आउकम्मं) आयुष्य कर्म (चउव्विहं) चार प्रकार का है (नेरइयतिरिक्खाउं) नरकायुष्य तिर्यंचायुष्य (तहेव) वैसे ही (मणुस्साउं) मनुष्यायुष्य (य) और (चउत्थं तु) चौथा (देवाउअं) देवायुष्य है।

भावार्थः--हे गौतम! आत्मा के नियत समय तक एक ही स्थान रहने की मियाद को आयुष्य कर्म कहते है। यह आयुष्य कर्म चार प्रकार का है। (१) नरक योनि में रहने की मियाद को नरकायुष्य (२) तिर्यंच योनि में रहने की मियाद को तिर्यंचायुष्य (३) मनुष्य योनि में रहने की मियाद को मनुष्यायुष्य और (४) देव योनि में रहने की मियाद को देवायुष्य कहते है।

हे गौतम! अब हम इन चारों जगह का आयुष्य किन किन कारणों से बँधता है उसे कहते हैं। महारंभ करना,

अत्यन्त लालसा रखना, पंचेन्द्रिय जीवों का वध करना तथा माँस खाना, आदि ऐसे कार्यों से नरकायुष्य का बंध होता है। कपट करना, कपट पूर्वक फिर कपट करना, असत्य भाषण करना, तौलने की वस्तुओं में और नापने की वस्तुओं में कमीबेशी लेना देना आदि ऐसे कार्यों के करने से तिर्यंचायुष्य का बँध होता है। निष्कपट व्यवहार करना, नम्रभाव होना, सब जीवों पर दया भाव रखना, तथा ईर्षा नहीं करना आदि कार्यों से मनुष्यायुष्य का बँध होता है। सराग संयम व ग्रहस्थ धर्म के पालने, अज्ञानयुत् तपस्या करने, बिना इच्छा से भूख, प्यास आदि सहन करने तथा शील व्रत पालने से देवायुष्य का बँध होता है।

हे गौतम ! अब हम आगे नाम कर्म [The 6th out of the 8 varieties of Karmas by which a soul acquires a name] का स्वरूप कहते हैं, सो सुनोः—

नामकम्मं तु दुविहं, सुहं असुहं च आहियं।
सुहस्स य बहू भेया, एमेव असुहस्स वि ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (नामकम्मं तु) नाम कर्म तो (दुविहं) दो प्रकार का (आहियं) कहा गया है। (सुहं) शुभ नाम कर्म (च) और (असुहं) अशुभ नाम कर्म जिस में (सुहस्स) शुभ नाम कर्म के (बहू) बहुत (भेया) भेद हैं। (य) और (असुहस्स वि) अशुभ नाम कर्म के भी (एमेव) इसी प्रकार अनेक भेद माने गये हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! जिस के द्वारा शरीर सुन्दराकार हो अथवा असुन्दराकार आदि होने में कारण भूत

हो वही नाम कर्म है। यह नाम कर्म दो प्रकार का माना गया है। उन में से एक शुभ नाम कर्म और दूसरा अशुभ नाम कर्म है। मनुष्य शरीर, देव शरीर, सुन्दर अंगोपाङ्ग और वर्णादि, वचन में मधुरता का होना, लोकप्रिय, यशस्वी तीर्थंकर आदि आदि का होना, आदि २ ये सब के सब शुभ नाम कर्म के फल हैं। नारकीय, तिर्यंच का शरीर धारण करना, पृथ्वी, पानी, वनस्पति, आदि में जन्म लेना, बेडौल अँगोपाङ्गों का पाना, कुरूप और अयशस्वी होना। ये सब अशुभ नाम कर्म के फल हैं।

हे गौतम! शुभ अशुभ नाम कर्म कैसे बँधता है सो सुनोः—मानसिक वाचिक और कायिक कृत्य की सरलता रखने से और किसी के साथ किसी भी प्रकार का वैर विरोध न करने व न रखने से शुभ नाम कर्म बंधता है। शुभ नाम कर्म के बंधन से विपरीत वर्ताव के करने से, अशुभ नाम कर्म बँधता है।

हे गौतम! अब हम आगे गोत्र कर्म का स्वरूप बतलावेंगे।

गोयकम्मं तु दुविहं, उच्चं नीअं च आहिअं।
उच्चं अट्ठ विहं होइ, एवं नीअं वि आहिअं ॥१४॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (गोयकम्मं तु) गोत्र कर्म (दुविहं) दो प्रकार का (आहिअं) कहा गया है। (उच्चं) उच्च गोत्र कर्म (च) और (नीअं) नीच गोत्र कर्म (उच्चं) उच्च गोत्र कर्म (अट्ठविहं) आठ प्रकार का (होइ) है (नीअं वि) नीच गोत्र कर्म भी (एवं) इसी तरह आठ प्रकार का होता है ऐसा (आहिअं) कहा गया है।

भावार्थः—हे गौतम! उच्च तथा नीच जाति के आदि मिलने में जो कारण भूत हो उसे गोत्र कर्म कहते हैं। यह

गोत्र कर्म ऊंच, नीच में विभक्त होकर आठ प्रकार का होता है। ऊंच जाति और ऊंचे कुल में जन्म लेना, बलवान होना, सुन्दराकार होना, तपवान् होना, प्रत्येक व्यवहार में अर्थ प्राप्ति का होना, विद्वान् होना, ऐश्वर्यवान् होना ये सब ऊंचे गौत्र के फल स्वरूप में होते हैं। और इन सब बातों के विपरीत जो कुछ है उसे नीच गोत्र कर्म का फलादेश समझिए।

हे गौतम! वह ऊँच नीच गोत्र कर्म इस प्रकार से बँधता है। स्वकीय माता के वंश का, पिता के वंश का, ताकत का, रूप का, तप का, विद्वत्ता का और सुलभता से लाभ होने का, घमण्ड न करने से ऊंच गोत्र कर्म का बँध होता है। और इस के विपरीत अभिमान करने से नीच गोत्र का बँध होता है। हे गौतम! अब अन्तराय कर्म [The eighth Variety of Karmas (destiny) which abstains charity, profit, comfort, happiness and power) का स्वरूप बतलाते हैं।

दाणे लाभे य, भोगे य उवभोगे वीरिए तहा।
पंचविहमंतरायं, समासेण विआहियं ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (अन्तरायं) अन्तराय कर्म (समासेण) संक्षेप से (पंचविहं) पाँच प्रकार का (विआहियं) कहा गया है। (दाणे) दानान्तराय (य) और (लाभे) लाभान्तराय (भोगे) भोगान्तराय (य) और (उवभोगे) उपभोगान्तराय (तहा) वैसी ही (वीरिए) वीर्यान्तराय।

भावार्थः—हे गौतम ! जिस के उदय से इच्छित वस्तु की प्राप्ति में बाधा आवे वह अन्तराय कर्म है। इस के पांच भेद हैं। दान देने की वस्तु के विद्यमान होते हुए भी, दान देने का अच्छा फल जानते हुए भी, जब दान नहीं दिया जाता है, वह **दानान्तराय** है। व्यवहार में वा माँगने में सब प्रकार की सुविधा होते हुए भी जो प्राप्त न हो सके वह **लाभान्तराय** है। खान पान आदि की सामग्री के व्यवस्थित रूप से होने पर भी जो खा, पी, न सके, खा और पी भी लिया तो हज़म न किया जासके, वह **भोगान्तराय** कर्म है। भोग पदार्थ वे है, जो एक बार काम में आते हैं। जैसे भोजन, पानी आदि। और जो बार बार काम में आते हैं उन्हें उपभोग माना गया है। जैसे वस्त्र, आभूषण आदि अतः जिसके उदय से उपभोग की सामग्री संघठित रूप से स्वाधीन होते हुए भी अपने काम में न ली जा सके उसे **उपभोगान्तराय** कर्म कहते हैं। और जिस के उदय से युवान और बलवान् होते हुए भी कोई कार्य न किया जा सके, वह **वीर्यान्तराय कर्म** का फलादेश है।

हे गौतम ! यह अन्तराय कर्म निम्न प्रकार से बँधता है। दान देते हुए के बीच बाधा डालने से, जिसे लाभ होता हो उसे धक्का लगाने से, जो खा, पी रहा हो या खाने, पीने का जो समय हुआ हो उसे टालने से, जो उपभोग की सामग्री को अपने काममें ला रहा हो उसे अन्तराय देने से, तथा जो सेवा धर्म का पालन कर रहा हो उस के बीच रोड़ा अटकाने से, आदि आदि कारणों से वह जीव अन्तराय कर्म बांध लेता है।

हे गौतम ! अब हम आठों कर्मों की पृथक् पृथक् स्थिति कहेंगे सो सुनो।

उदहिसरिसनामाणं; तीसई कोडिकोडीओ।
उक्कोसिया ठिई होई, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ॥१६॥
आवरणिज्जाण दुण्हंपि; वेयणिज्जे तहेव य ॥
अंतराए य कम्मंमि, ठिई एसा वियाहिया ॥ १७ ॥

अन्वयार्थः- हे इन्द्रभूति ! (दुण्हं पि) दोनों ही (आवरणिज्जाण) ज्ञानावरणीय व दर्शनावरणीय कर्म की (तीसई) तीस (कोडिकोडीओ) कोटाकोटि (उदहिसरिसनामाणं) समुद्र के समान है नाम जिसका ऐसा सागरोपम (उक्कोसिया) ज़्यादा से ज़्यादा (ठिई) स्थिति (होइ) है (तहेव) वैसे ही (वेयणिज्जे) वेदनीय (य) और (अन्तराए) अन्तराय (कम्मम्मि) कर्म के विषय में भी (ऐसा) इतनी ही उत्कृष्टी स्थिति है और (जहण्णिया) कम से कम चारों कर्मों की (अन्तोमुहुत्तं) अन्तरमुहूर्त (ठिई) स्थिति (वियाहिय) कही है।

भावार्थः-हे गौतम ! ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय वेदनीय और अन्तराय ये चारों कर्म अधिक से अधिक रहे तो तीस क्रोडाक्रोड़ी (तीस क्रोड़ को तीस क्रोड़ से गुणा करने पर जो गुणनफल आवे वह) सागरोपम की इन की स्थिति मानी गयी है। और कम से कम रहे तो अन्तर मुहूर्त्त की इन की स्थिति होती है।

उदहिसरिसनामाणं, सत्तरि कोडिकोडीओ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा, अन्तोमुहुत्तं जहण्णिया॥१८॥
तेत्तीसं सागरोवम; उक्कोसेण वियाहिया।
ठिई उ आउकम्मस्स; अन्तोमुहुत्तं जहण्णिया॥१९॥
उदहिसरिसनामाणं; वीसई कोडिकोडीओ ।
नामगोत्ताण उक्कोसा; अट्ठ मुहुत्ता जहण्णिया॥२०॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (मोहणिज्जस्स) मोहनीय कर्म की (उक्कोसा) उत्कृष्ट स्थिति अर्थात् अधिक से अधिक (सत्तरि) सत्तर(कोडिकोडीओ)कोटा कोटि(उदहिसरिस नामाणं) सागरोपम है। और(जहण्णिया)जघन्य (अन्तोमुहुत्तं) अन्तरमुहूर्त्त, और (आउकम्मस्स) आयुष्य कर्म की (उक्कोसेण) उत्कृष्ट स्थिति (तेत्तीसं सागरोवम) तेंतीस सागरोपम की है। और (जहण्णिया)जघन्य (अन्तोमुहुत्तं) अन्तरमुहूर्त्त की और इसी प्रकार (नामगोत्ताणं) नाम कर्म और गोत्र कर्म की (उक्कोसा) उत्कृष्ट स्थिति (वीसई) बीस (कोडिकोडीओ) कोटाकोटि (उदहिसरिसनामाणं) सागरोपम की है। और (जहण्णिया) जघन्य(अट्ठ)आठ (मुहुत्ता) मुहूर्तकी (ठिई) स्थिति (वियाहिया) कही है।

भावार्थः--हे गौतम ! मोहनीय कर्म की ज़्यादा से ज़्यादा स्थिति सत्तर क्रोड़ाक्रोड़ सागरोपम की है। और जघन्य (कम से कम)स्थिति अन्तर मुहूर्त्त की है। आयुष्य

कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेंतीस सागरोपम की और जघन्य अन्तर मुहूर्त्त की है। नाम कर्म एवं गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटाकोटि सागरोपम की है और जघन्य आठ मुहूर्त्त की कही है।

एगया देवलोएसु; नरएसु वि एगया।
एगया आसुरं कायं; अहाकम्मेहिं गच्छइ ॥२१॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! यह आत्मा (एगया) कभी तो (देवलोएसु) देवलोक में (एगया) कभी (नरएसु वि) नरक में (एगया) कभी (आसुरं) भवनपति आदि असुर की (कायं) काया को प्राप्त होती है। (अहाकम्मेहिं) जैसे कर्म किये है, उन के अनुसार यह (गच्छई) जाती है।

भावार्थः--हे गौतम ! आत्मा जब शुभ कर्म उपार्जन करती है तो वह देवलोक में जाकर उत्पन्न होती है यदि वह आत्मा अशुभ कर्म उपार्जन करती है तो नरक में जाकर घोर यातना सहती है। और कभी अज्ञान पूर्वक बिना इच्छा से क्रिया काण्ड करती है तो वह भवनपति आदि देवों में जाकर उत्पन्न होती है। इस से सिद्ध हुआ कि यह आत्मा जैसा कर्म करती है वैसा स्थान पाती है।

तेणे जहा संधिमुहे गहीए;
सकम्मुणा किच्चइ पावकारी
एवं पया पेच्च इहंच लोए;
कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि ॥ २२ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (पावकारी) पाप करने वाला (तेणे) चोर (संधिमुहे) खात के मुँह

पर (गहीए) पकड़ा जा कर (सकम्मुणा) अपने किये हुए कर्मों के द्वारा ही (किच्चई) छेदा जाता है, दुःख उठाता है, (एवं) इसी प्रकार (पया) प्रजा अर्थात् लोक (पेच्चा) परलोक (च) और (इहलोए) इस लोक में किये हुए दुष्कर्मों के द्वारा दुःख उठावेंगे । क्योंकि (कडाण) किये हुए (कम्माण) कर्मों को भोगे बिना (मुक्ख) कर्म रहित आत्मा (न) नहीं (अत्थि) होती है ।

भावार्थः--हे गौतम ! कर्म कैसे हैं ? जैसे कोई अत्याचारी चोर खात के मुँह पर पकड़ा जाता है, और अपने कृत्यों के द्वारा कष्ट उठाता है अर्थात् प्राणान्त कर बैठता है । वैसे ही यह आत्मा अपने किये हुए कर्मों के द्वारा इस लोक और परलोक में महान् दुःख उठाती है । क्योंकि किये हुए कर्मों को भोगे बिना मोक्ष नहीं मिलती है ।

संसारमावण्ण परस्स अट्ठा,
साहारणं जं च करेइ कम्मं ।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले,
न बंधवा बंधवयं उविंति ॥ २३ ॥

---

(१) एक समय कई एक चोर चोरी करने को जा रहे थे । उन में एक सुतार भी शामिल हो गया । वे चोर एक नगर में एक धनाढ्य सेठ के यहां पहुँचे वहां उन्होंने सेंध लगाया । सेंध लगाते लगाते दीवाल में काठ का एक पटिया दिख पड़ा, तब वे चोर साथ के उस सुतार से बोले

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (संसारमावरणं) संसार के प्रपँच में फंसी हुई आत्मा (परस्स) दूसरों के (अट्ठा) लिए (च) तथा (साहारणं) स्व और पर के लिए (जं) जो (कम्मं) कर्म (करेइ) करती है। (तस्स उ) उस (कम्मस्स) कर्म के (वेयकाले) भोगते समय (ते) वे (बंधवा) कौटुम्बिक जन (बंधवयं) बन्धुत्वपन को (न) नहीं (उविंति) प्राप्त होते हैं।

कि अब तुम्हारी बारी है, पटिया काटना तुम्हारा काम है। अतः सुतार अपने शस्त्रों द्वारा काठ के पटिये को काटने लगा अपनी कारीगरी दिखाने के लिए सैंध के छेदों में चारों ओर तीखे तीखे कंगुरे उसने बना दिये। फिर वह खुद चोरी करने के लिए अन्दर घुसा ज्यों ही उसने अंदर पैर रखा, त्यों ही मकान मालिक ने उसका पैर पकड़ लिया। सुतार चिल्लाया, दौड़ो दौड़ो, और बोला-म-का—न मा-लि--क--मकान मा-लि--क ! मेरे पाँव छुड़ाओ। यह सुनते ही चोर भागे, और लगे सर पकड़ कर खींचने। सुतार बेचारा बड़े ही झमेले में पड़ गया। भीतर और बाहर दोनों तरफ से जोरों की खींचातानी होने लगी बस, फिर क्या ? जैसे बीज उसने बोये फसल भी वैसी ही उसे काटनी पड़ी। उस के निजू बनाये हुए सेंध के पैने पैने कंगूरों ही ने उसके प्राणों का अन्त कर दिया। आत्मा के लिए भी यही बात लागू होती है। वह भी अपने ही अशुभ कर्मों के द्वारा लोक और परलोक में महान् कष्टों के झकझोरों में पड़ती है।

भावार्थः-हे गौतम! संसारी आत्मा ने दूसरों के तथा अपने लिए जो दुष्ट कर्म उपार्जन किये हैं, वे कर्म जब उसके फल स्वरूप में आवेंगे उस समय जिन बन्धु बान्धवों और मित्रों के लिए तथा स्वतः के लिए वे दुष्कर्म किये थे वे कोई भी आकर पाप के फल भोगने में सम्मिलित नहीं होंगे।

न तस्स दुक्खं विभयंति नाइओ;
न मित्तवग्गा न सुया न बन्धवा।
इक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं;
कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥ २४ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (तस्स) उस पाप कर्म करने वाले के (दुक्खं) दुःख को (नाइओ) स्वजन वगैरह भी (न) नहीं (विभयंति) विभाजित कर सकते हैं और (न) नहीं (मित्तवग्गा) मित्रवर्ग (न) नहीं (सुया) पुत्र वर्ग (न) नहीं (बंधवा) बन्धुजन कर्मों के फल से बचा सकते हैं। (इक्को) वही अकेला (दुक्खं) दुःख को (पच्चणु-होइ) भोगेगा। क्योंकि (कम्मं) कर्म (कत्तारमेव) करने वाले ही के साथ (अणुजाइ) जावेगा।

भावार्थः--हे गौतम! किये हुए कर्मों का जब उदय होता है। उस समय ज्ञाति जन, मित्र लोग, पुत्रवर्ग, बन्धु जन आदि कोई भी उन में किसी भी तरह की कमी नहीं कर सकते हैं। जिस आत्माने कर्म किये हैं वही आत्मा अकेली उसका फल भी भोगेगी। यहां से मरने पर किये हुए कर्म करने वाले के साथ ही जाते हैं।

चिच्चा दुपयं च चउप्पयं च;
खित्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं ।
सकम्मप्पबीओ अवसो पयाइ;
परं भवं सुन्दरं पावगं वा ॥ २५ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (सकम्मप्पबीओ) आत्मा का दूसरा साथी उसके अपने किये हुए कर्म ही है । इसी से (अवसो) परवश होता हुआ यह जीव (सव्वं) सब (दुपयं) स्त्री, पुत्र, दास, दासी, आदि (च) और (चउप्पयं) हाथी घोड़े आदि (च) और (खित्तं) खेत वग़ैरह (गिहं) घर (धण) रुपया, पैसा, सिक्का वग़ैरह (धन्नं) अन्न वग़ैरह को (चिच्चा) छोड़ कर (सुन्दरं) स्वर्गादि उत्तम (वा) अथवा (पावगं) नरकादि अधम ऐसे (परं भवं) परभव को (पयाइ) जाता है ।

भावार्थः--हे गौतम ! स्वकृत कर्मों के आधीन होकर यह आत्मा स्त्री, पुत्र, हाथी, घोड़े, खेत, घर, रुपया, पैसा, धान्य, चाँदी, सुवर्ण आदि सभी को मृत्यु की गोद में छोड़ कर जैसे भी शुभाशुभ कर्म इस के द्वारा किये होते हैं उन के अनुसार, स्वर्ग तथा नरक में जाकर उत्पन्न होती है ।

जहा य अंडप्पभवा बलागा;
अंडं बलागप्पभवं जहा य ।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा;
मोहं च तण्हाययणं वयंति ॥ २६ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (जहा य) जैसे (अंडप्पभवा) अण्डा से बगुली उत्पन्न हुई (य) और

(जहा) जैसे (बलागप्पभवं) बगुली से अंडा उत्पन्न हुआ (एमेव) इसी तरह (खु) निश्चय कर के (मोहाययणं) मोहका स्थान (तण्हा) तृष्णा (च) और (तण्हाययणं) तृष्णा का स्थान (मोहं) मोह है, ऐसा (वयंति) ज्ञानी जन कहते हैं।

भावार्थः--हे गौतम ! जैसे अण्डे से बगुली (मादा-बगुला) उत्पन्न होती है और बगुली से अण्डा पैदा होता है। इसी तरह से मोह कर्म से तृष्णा उत्पन्न होती है और तृष्णा से मोह उत्पन्न होता है। हे गौतम ! ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं।

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं;
कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाई मरणस्स मूलं;
दुक्खं च जाईमरणं वयंति ॥ २७ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (रागो) राग (य) और (दोसो वि य) दोष ये दोनों भी (कम्मं बीयं) कर्म उत्पन्न होने में कारण भूत हैं (च) और (मोहप्प भवं) मोह से उत्पन्न होते हैं। (कम्मं) कर्म, ऐसा (वयंति) ज्ञानी जन कहते हैं। (च) और (जाईमरणस्स) जन्म मरण का (मूलं) मूल कारण (कम्मं) कर्म है (च) और (जाईमरणं) जन्म मरण ही (दुक्खं) दुःख है, ऐसा (वयंति) ज्ञानी जन कहते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! जितने भी कर्म होते हैं। सब के सब राग द्वेष से उत्पन्न होते हैं। और राग द्वेष ये दोनों

मोह से उत्पन्न होते हैं। जन्म मरण का मूल कारण कर्म है और जन्म मरण ही दुःख है, ऐसा ज्ञानी जन कहते हैं।

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तराहा।
तराहा हया जस्स न होइ लोहो,
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं॥

अन्वयार्थः- हे इन्द्रभूति! (जस्स) जिसके (मोहो) मोह कर्म (न) नहीं (होइ) है, उसने (दुक्खं) दुःख को (हयं) नष्ट कर डाला (जस्स) जिसके (तराहा) तृष्णा (न) नहीं (होइ) है, उसने (मोहो) मोह कर्म को (हओ) नष्ट कर डाला (जस्स) जिसके (लोहो) लोभ कर्म (न) नहीं (होइ) है उसने (तराहा) तृष्णा (हया) नष्ट कर डाली और (जस्स) जिसको (किंचणाइं) धन से ममत्व (न) नहीं है, उसने (लोहो) लोभ कर्म को (हयो) नष्ट कर डाला है।

भावार्थः-हे गौतम! जिसने मोह कर्म को जीत लिया है वह दुःखों के समुद्र से सचमुच में पार पा गया है। और जिसने तृष्णा को वश में कर ली है, मोह कर्म उसके कभी पास तक नहीं फटकता है। जिसने लोभ को छोड़ दिया है, उस से तृष्णा भी भाग निकली है। और जिसने धन पर से ममत्व हटा लिया है, उसका लोभ नष्ट हो गया है, ऐसा समझो।

इति निर्ग्रन्थ-प्रवचनस्य द्वितीयोऽध्यायः

तीसराऽध्याय

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

कम्माणं तु पहाणाए; आणुपुव्वी कयाइ उ ।
जीवा सोहि मणुप्पत्ता; आययंति मणुस्सयं ॥ १ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (आणुपुव्वी) अनुक्रम से (कम्माणं) कर्मों की (पहाणाए) न्यूनता होने पर (कया इ उ) कभी (जीवा) जीव (सोहिमणुप्पत्ता) कर्मों से शुद्धता प्राप्त कर (मणुस्सयं) मनुष्यत्व को (आययंति) प्राप्त होते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! जब यह जीव अनेक जन्मों में दुःख सहन करता हुआ धीरे धीरे मनुष्य जन्म के बाधक कर्मों को नष्ट कर लेता है। तब कहीं कर्मों के भार से हलका होकर मनुष्य जन्म को प्राप्त करता है।

वेमायाहिं सिक्खाहिं; जे नरा गिहि सुव्वया ।
उविंति माणुसं जोणिं; कम्मसच्चा हु पाणिणो ॥२॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (नरा) मनुष्य (वेमायाहिं) विविध प्रकार की (सिक्खाहिं) शिक्षाओं को (गिहि सुव्वया) गृहस्थावास में सुव्रतों 'अणुव्रतों' का आचरण करने वाले हों, वे मनुष्य फिर (माणुसं) मनुष्य (जोणिं) योनि ही

को (उविंति) प्राप्त होते हैं। (हु) क्योंकि (पाणिणो) प्राणी (कम्मसच्चा) सत्य कर्म करने वाला है, अर्थात् जैसे कर्म वह करता है वैसी ही उसकी गति होती है।

भावार्थः-हे गौतम ! कौन मनुष्य मर कर पुनः मनुष्य जन्म में ही पैदा होता है ? जो नाना प्रकार के त्याग धर्म को धारण करता है। प्रत्येक के साथ निष्कपट व्यवहार करता है; वही पुनः मनुष्य भव को प्राप्त हो सकता है। क्योंकि जैसे कर्म वह करता है, उसी के अनुसार गति मिलती है।

बाला किड्डा य मंदा य; बला पन्नाय हायणी।
पवंचा पभाराय, मुम्मुही सायणी तहा॥ ३॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! मनुष्य की दश अवस्थाएँ हैं। प्रथम (बाला) बाल्य अवस्था (य) और (किड्डा) क्रिडावस्था (मंदा) व्यापारादि कार्य कुशलता में मन्द होने से मन्दावस्था (बला) चौथी बलावस्था (य) और (पन्ना) पाँचवी प्रज्ञावस्था और इन्द्रिय हीन होने से छठी (हायणी) हायनी अवस्था श्लेष्म आदि अधिक निकलने का प्रपंच हो जाता है। इसी से सातवीं (पवंचा) प्रपंचावस्था (य) और कुछ शरीर झुक जाता है। इसलिये आठवीं (पब्भारा) प्राग्भारावस्था। जीव को छोड़ने के लिए सम्मुख होती है। इसी से नौवीं (मुंमुही) मुम्मुखी अवस्था (तहा) वैसी ही प्रायः दिन भर सोये रहने से मनुष्य की दशवीं अवस्था (सायणी) शायनी अवस्था होती है।

भावार्थः--हे गौतम ! जिस समय मनुष्य की जितनी आयु हो उतनी आयु को दश भागों में बाँटने से दश अवस्थाएँ होती हैं। जैसे सौ वर्ष की आयु हो तो दश वर्षों की एक अवस्था, यों दश दश वर्षों की दश अवस्थाएँ हैं। प्रथम **बाल्यावस्था** [The 1st stage out of the 10 stages of a man who is hundred years old when he is out influenced by the delusion of the world or resolutions] है कि जिस में खाना, पीना, कमाना, रूप आदि सुख दुख का प्रायः भान नहीं रहता है। दश वर्ष से बीस वर्ष तक खेलने कूदने की प्रायः धुन रहती है। इसलिये दूसरी अवस्था का नाम क्रीड़ावस्था है। बीस वर्ष से तीस वर्ष तक अपने गृह में जो काम भोगों की सामग्री जुटी हुई है। बस उसी को भोगते रहना और नवीन अर्थ सम्पादन करने में प्रायः बुद्धि की मन्दता रहती है। इसी से तीसरी मन्दावस्था है। तीस से चालीस वर्ष पर्यंत यदि वह स्वस्थ रहे तो उस हालत में वह कुछ बली दिखलाई देता है। इसी से चौथी बलावस्था [The fourth stage of the 10 stages of a man which ranges from 31st to 40 th years when his full physical power comes out] कही गयी है। चालीस से पचास वर्ष तक इच्छित अर्थ का सम्पादन करने के लिये तथा कुटुम्ब वृद्धि के लिए खूब बुद्धि का प्रयोग करता है, इसी से पाँचवी प्रज्ञावस्था है। ५० से ६० वर्ष तक जिस में इन्द्रिय जन्य विषय ग्रहण करने में कुछ हीनता आजाती है। इसी लिए छठी हायनी अवस्था है। साठ से सत्तर वर्ष तक बार बार कफ निकलने, थूकने और

खांसने का प्रपँच बढ जाता है । इसी से सातवीं प्रपँचावस्था है । शरीर पर सलवट पड़ जाते हैं । और शरीर भी कुछ झुक जाता है इसी से सत्तर से अस्सी वर्ष तक की अवस्था को प्राग्भार अवस्था कहते है । नौवीं अस्सी से नब्बे वर्ष तक मुम्मुखी अवस्था में जीव जरारूप राक्षी से पूर्ण रूप से घिर जाता है । या तो इसी अवस्था में परलोक वासी बन बैठता है और यदि जीवित रहा तो एक मृतक के समान ही है । नब्बे से सौ वर्ष तक प्रायः दिन रात सोते रहना ही अच्छा लगता है । इसलिए दशवीं शायणी अवस्था कही जाती है ।

माणुस्सं विग्गहं लध्धुं; सुई धम्मस्स दुल्लहा ।
जं सोच्चा पडिवज्जंति; तवं खंतिमहिंसयं ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (माणुस्सं) मनुष्य के (विग्गहं) शरीर को (लध्धुं) प्राप्त कर (धम्मस्स) धर्म का (सुई) श्रवण करना (दुल्लहा) दुर्लभ है । (जं) जिसको (सोच्चा) सुनने से (तवं) तप करने की (खंतिमहिंसयं) तथा क्षमा और अहिंसा के पालन करने की इच्छा उत्पन्न होती है ।

भावार्थः-हे गौतम ! दुर्लभ मानव देह को पा भी लिया तो भी धार्मिक तत्त्व का **श्रवण करना** महान् दुर्लभ **है** । जिस के सुनने मात्र से तप, क्षमा, अहिंसा आदि करने **की प्रबल** इच्छा जाग उठती है ।

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं; अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति! (अहिंसा) जीव दया (संयम) यत्ना और (तवो) तप रूप (धम्मो) धर्म (उक्किट्ठं) सब से अधिक (मंगल) मंगल मय है। इस प्रकार के (धम्मे) धर्म में (जस्स) जिसका (सया) हमेशा (मणो) मन है, (तं) उसको (देवा वि) देवता भी (नमंसंति) नमस्कार करते हैं।

भावार्थः--हे गौतम! किंचिन्मात्र भी जिस में हिंसा नहीं है, ऐसी अहिंसा और मन वचन काया के अशुभ योगों का घातक तथा पूर्वकृत पापों का नाश करने में अग्रसर ऐसा तप, ये ही जगत में प्रधान और मंगल मय धर्म के अंग है। बस एक मात्र इसी धर्म को हृदयंगम करने वाला मानव शरीर देवों से भी सदैव पूजित होता है, तो फिर मनुष्यों द्वारा वह पूजित दृष्टि से देखा जाय इस में आश्चर्य ही क्या है?

मूला उ खंधप्पभवो दुमस्स,
खंधाउ पच्छासमुविंति साहा
साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता,
तओ से पुप्फं च फलं रसो अ ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति! (दुमस्स) वृक्ष के (मूलाउ) मूल से (खंधप्प भवो) स्कन्ध अर्थात् "पींड" पैदा होता है (पच्छा) पश्चात् (खंधाउ) स्कंध से (साहा) शाखा (समुविंति) उत्पन्न होती है। और (साहप्पसाहा) शाखा प्रतिशाखा से (पत्ता) पत्ते (विरुहंति) पैदा होते हैं। (तओ) उसके बाद (से) वह वृक्ष (पुप्फं) फूलदार

(च) और (फलं) फलदार (अ) और (रसो) रस वाला बनता है ।

भावार्थः--हे गौतम ! वृक्ष के मूल से स्कन्ध उत्पन्न होता है । तदन्तर स्कन्ध से शाखा प्रति शाखा उसके बाद शाखा से पत्ते उत्पन्न होते हैं । अन्त में वह वृक्ष फूलदार फलदार व रस वाला होता है ।

एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मुक्खो ।
जेण किर्त्ति सुअं सिग्घं; नीसेसं चाभिगच्छइ ॥ ७॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (एवं) इस प्रकार (धम्मस्स) धर्म की (परमो) मुख्य (मूलं) जड़ (विणओ) विनय है । फिर उस से क्रमशः आगे (से) वह (मुक्खो) मुक्ति है । इस लिए पहले विनय आदरणीय है । (जेण) जिससे वह (कित्ति) कीर्ति को (अभिगच्छइ) प्राप्त होता है । (च) और (सुअं) श्रुत ज्ञान रूप (सिग्घं) प्रशंसा को (नसेसं) सम्पूर्ण रूप प्राप्त करता है ।

भावार्थः--हे गौतम ! जिस प्रकार वृक्ष अपनी जड़ के द्वारा क्रमपूर्वक रसवाला होता है । उसी प्रकार धर्म की जड़ भी विनय धर्म है । विनय धर्मके पश्चात् ही स्वर्ग, शुक्लध्यान, क्षपक श्रेणी [The spiritual evolution of a soul made by destroying the different Karmas in succession] आदि उत्तरोत्तर गुण के साथ रसवान वृक्ष के समान आत्मा मुक्ति रूपी रस को प्राप्त कर लेती है । जब मूल ही नहीं है तो शाखा पत्ते फूल फल रस कहाँ से होंगे । ऐसे ही जब विनय धर्म रूप मूल ही नहीं हो तो मुक्ति का

मिलना महान् कठिन है। गौतम ! सबों के लिए विनय आदरणीय है। जिस से उस की कीर्ति फैलती है और ज्ञान को प्राप्त करने में सम्पूर्ण यश का पात्र बन जाता है।

अणुसट्टिंपि बहुविहं, मिच्छ दिट्टिया जे नरा अबुद्धीया
बद्धनिकाइय कम्मा,सुणंति धम्मं न परं करेंति ॥८॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (बहुविहं) अनेक प्रकार से (धम्मं) धर्म को (अणुसट्टपि) शिक्षित गुरु के द्वारा प्राप्त होने पर भी (बद्धनिकाइय कम्मा) बँधे हैं निकाश्रित कर्म जिसके ऐसे (अबुद्धीया) बुद्धि रहित (मिच्छादिट्ठिया) मिथ्या दृष्टि (नरा) मनुष्य (जे) वे केवल (धम्मं) धर्म को (सुणंति) सुनते हैं (वरं) परन्तु (न) नहीं (करेंति) अनुकरण करते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! गृहस्थ धर्म और चरित्र धर्म जिसको शिक्षित गुरु के द्वारा विशदाविवरण होने पर भी निकाश्रित कर्म बँध जाने से बुद्धि रहित मिथ्या दृष्टि जो मनुष्य हैं वे केवल उन धर्मों को सुन कर ही रहजाते हैं। परन्तु उनके अनुसार अपने कर्तव्य को नहीं बना सकते हैं।

जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायंति,ताव धम्मं समायरे॥ ६ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (जाव) जहाँ तक (जरा) वृद्धावस्था (न) नहीं (पीडेइ) सताती और (जाव) जहां तक(वाही) व्याधि (न) नहीं (वड्ढइ) बढ़ती और (जाविंदिया) जब तक इन्द्रियाँ (न) नहीं (हायंति) शिथिल होतीं (ताव) तब तक (धम्मं) धर्म को (समायरे) अंगीकार करले।

भावार्थः—हे गौतम! जहां तक वृद्धावस्था नहीं सताती और जहां तक धर्म घातक रूप व्याधि की बढ़ती नहीं होती और जहां तक निर्ग्रंथ प्रवचन सुनने में सहायक भूत श्रुतेन्द्रिय तथा जीव दया पालन करने में सहायक भूत चक्षु आदि इन्द्रियों की शिथिलता नहीं आ घेरती वहां तक धर्म को बड़े ही गाढ़े रूप से अंगीकार कर लेना चाहिए।

जा जा वच्चइ रयणी; न सा पडि निअत्तइ।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जंति राइओ ॥१०॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (जा जा) जो जो (रयणी) रात्रि (वच्चइ) जाती है (सा) वह रात्रि (न) नहीं (पडिनिअत्तइ) लौट कर आती है। अतः (अहम्मं) अधर्म (कुणमाणस्स) करने वाले का (अफला) निष्फल (राइओ) रात्रियां (जंति) जाती हैं।

भावार्थः—हे गौतम! जो जो रात और दिन बीत रहे हैं वह समय पीछा लौट कर नहीं आ सकता। अतः ऐसा अमूल्य समय मानव शरीर में पाकर के भी जो अधर्म करता है, तो उस अधर्म करने वाले का समय निष्फल जाता है।

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडि निअत्तइ।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जंति राइओ ॥११॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (जा जा) जो जो (रयणी) रात्रि (वच्चइ) निकलती है (सा) वह (न) नहीं (पडिनिअत्तइ) लौट कर आती है। अतः (धम्मं च) धर्म (कुणमाणस्स) करने वाले की (राइओ) रात्रियाँ (सफला) सफल (जंति) जाती हैं।

भावार्थः--हे गौतम ! रात और दिन का जो समय जा रहा है। वह पुनः लौट कर किसी भी तरह नहीं आ सकता। ऐसा समझ कर जो धार्मिक जीवन बिताते हैं उनका समय (जीवन) सफल है।

सोही उज्जुअ भूयस्स; धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।
णिव्वाणं परमं जाइ: घयसित्ती व्व पावए ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (उज्जुअ भूयस्स) सरल स्वभावी का हृदय (सोही) शुद्ध होता है। उस (सुद्धस्स) शुद्ध हृदय वाले के पास (धम्मो) धर्म (चिट्ठइ) स्थिरता से रहता है। जिस से वह (परमं) प्रधान (णिव्वाणं) मोक्ष को (जाइ) जाता है। (व्व) जैसे (पावए) अग्नि में (घयसित्ती) घी सींचने पर अग्नि प्रदीप्त होती है। ऐसे ही आत्मा भी बलवती होती है।

भावार्थः--हे गौतम ! स्वभाव को सरल रखने से आत्मा कषायादि से रहित हो कर (शुद्ध) निर्मल हो जाती है। उस शुद्धात्मा के धर्म की भी स्थिरता रहती है। जिस से उसकी आत्मा जीवन मुक्त हो जाती है। जैसे अग्नि में घी डालने से वह धधक उठती है उसी तरह आत्मा के कषायादिक आवरण दूर हो जाने से वह भी अपने केवल ज्ञान के गुणों से देदीप्यमान हो उठती है।

जरामरणवेगेणं; वुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठाय; गइ सरणमुत्तमं ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (जरामरणवेगेणं) जरा मृत्यु रूप जल के वेग से (वुज्झमाणाण) डूबते हुए (पाणिणं) प्राणियों को (धम्मो) धर्म (पइट्ठा) निश्चल

आधार भूत (गई) स्थान (य) और (उत्तमं) प्रधान (शरणं) शरण रूप (दीवो) द्वीप है।

भावार्थः--हे गौतम ! जन्म जरा, मृत्यु रूप जल के प्रवाह में डूबते हुए प्राणियों को मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला धर्म ही निश्चल आधार भूत स्थान और उत्तम शरणागत रूप एक टापू के समान है।

एस धम्मे धुवे णितए; सासए जिणदेसिए।
सिद्धा सिज्झंति चाणेणं; सिज्झिस्संति तहावरे॥ १४॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (जिणदेसिए) तीर्थंकरों के द्वारा कहा हुआ (एस) यह (धम्मे) धर्म (धुवे) ध्रुव है (णिइए) नित्य है (सासए) शाश्वत है (अणेणं) इस धर्म के द्वारा अनंत जीव भूत काल में सिद्ध हुए हैं (च) और वर्तमान काल में (सिज्झंति) सिद्ध हो रहे हैं (तहा) उसी तरह (अवरे) भविष्यत काल में भी सिद्ध होंगे।

भावार्थः--हे गौतम ! पूर्ण ज्ञानियों के द्वारा कहा हुआ यह धर्म ध्रुव के समान है। तीन काल में नित्य है। शाश्वत् है। इसी धर्म को अङ्गीकार कर के अनंत जीव भूत काल में कर्मों के बँधन से मुक्त हो कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो गये है। वर्तमान् काल में हो रहे हैं। और भविष्यत काल में भी इसी धर्म का सेवन करते हुए अनंत जीव मुक्ति को प्राप्त करेंगे।

इति निर्ग्रन्थ-प्रवचनस्य तृतीयोऽध्यायः

अध्याय चौथा

॥ श्री भगवानुवाच ॥

जह णरगा गम्मंति; जे णरगा जा य वेयणा णरए।
सारीरमाणसाइं, दुक्खाइं तिरिक्ख जोणीए ॥ १ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जह) जैसे (णरगा) नारकीय जीव (णरए) नरक में (गम्मंति) जाते हैं। (जे) वे (णरगा) नारकीय जीव (जा) नरक में उत्पन्न हुई (वेयणा) वेदना को सहन करते हैं। उसी तरह (तिरिक्ख जोणीए) तिर्यंच योनियों में जानेवाली आत्माएँ भी (सारीर-माणसाइं) शारीरिक, मानसिक (दुक्खाइं) दुखों को सहन करती हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! जिस प्रकार नरक में जाने वाले जीव अपने कृत कर्मों के अनुसार नरक में उत्पन्न होने वाली महान् वेदना को सहन करते हैं, उसी तरह तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने वाली आत्माएं भी कर्मों के फल रूप में अनेक प्रकार की शारीरिक और मानसिक वेदनाओं को सहन करती हैं।

माणुस्सं च अणिच्चं, वाहिजरामरणवेयणापउरं।
देवे य देवलोए, देविड्ढिं देवसोक्खाइं ॥ २ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (माणुस्सं) मनुष्य जन्म (अणिच्चं) अनित्य है (च) और वह (वाहिजरामरणवेयणापउरं) व्याधि, जरा, मरण, रूप प्रचुर वेदना से युक्त है (य) और (देवलोए) देव लोक में (देवे) देवगण अपने कृत पुण्यों से (देविड्ढि) देव ऋद्धि और (देवसोक्खाइं) देवता संबंधी सुखों को भोगते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! मनुष्य जन्म जो है, वह अनित्य है। साथही में जरामरण आदि व्याधि की प्रचुरता से भरा पड़ा है। और पुण्य उपार्जन कर जो स्वर्ग में गये हैं, वे वहां अपनी देव ऋद्धि और देवता संबंधी सुखों को भोगते हैं, परन्तु आ.खिर में वे भी वहां से चवते हैं।

णरगं तिरिक्खजोणिं, माणुसभवं च देवलोगं च।
सिद्धेअ सिद्धवसहिं, छज्जीवणियं परिकहेइ॥ ३॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! जो जीव पाप कर्म करते हैं, वे (णरगं) नरक को और (तिरिक्खजोणिं) तिर्यंच योनि को प्राप्त होते हैं। और जो पुण्य उपार्जन करते हैं, वे (माणुसभवं) मनुष्य भव को (च) और (देवलोगं) देवलोक को जाते हैं, (अ) और जो (छज्जीवणियं) षट् काय के जीवों की रक्षा करते हैं, वह (सिद्धवसहिं) सिद्धावस्था को प्राप्त करके अर्थात् सिद्धि गति में जाकर (सिद्धे) सिद्ध होते हैं। ऐसा सभी तीर्थंकरों ने (परिकहेइ) कहा है।

भावार्थः-हे आर्य ! जो आत्मा पाप कर्म उपार्जन करती हैं, वे नरक और तिर्यंच योनियों में जन्म लेती है।

जो पुण्य उपार्जन करती है, वे मनुष्य जन्म एवं देव गति में जाती हैं। और जो पृथ्वी, अप, तेज, वायु तथा वनस्पति के जीवों की तथा हिलते फिरते त्रस जीवों की सम्पूर्ण रक्षा कर अष्ट कर्मों का चूर चूर कर देने में समर्थ होती हैं, वे आत्माएँ, सिद्धालय में सिद्ध अवस्था को प्राप्त होती हैं। ऐसा ज्ञानियों ने कहा है।

जह जीवा बज्झंति, मुच्चंति जह य परिकिलिस्संति।
जह दुक्खाण अंतं, करेंति केई अपडिबद्धा ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति! (जह) जैसे (केई) कई (जीवा) जीव (बज्झंति) कर्मों से बँधते हैं, वैसे ही (मुच्चंति) मुक्त भी होते हैं (य) और (जह) जैसे कर्मों की वृद्धि होने से (परिकिलिस्संति) महान् कष्ट पाते हैं। वैसे ही (दुक्खाण) दुखों का (अंत) अन्त भी (करेंति) कर डालते हैं। ऐसा (अपडिबद्धा) अप्रतिबद्ध विहारी निर्ग्रन्थों ने कहा है।

भावार्थः–हे गौतम! यही आत्मा कर्मों को बाँधती है, और यही कर्मों से मुक्त भी होती है। यही आत्मा कर्मों का गाढ़ लेप करके दुखी होती है, और सदाचार सेवन से सम्पूर्ण कर्मों को नाश करके मुक्ति के सुखों का सोपान भी यही आत्मा तैयार करती है। ऐसा निर्ग्रन्थों का प्रवचन है।

अट्टदुहट्टिय चित्ता जह; जीवा दुक्खसागरमुवेंति।
जह वेरग्गमुवगया; कम्मसमुग्गं विहाडेंति ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! जो (जीवा) जीव वैराग्य भाव से रहित हैं वे (अट्टदुहट्टिय) आर्त्त रौद्र ध्यान से (चित्ता) विकल्प चित्त हो (जह) जैसे (दुक्खसागरं) दुख सागर को (उवंति) प्राप्त होते हैं। वैसे ही (वेरग्गं) वैराग्य को (उवगया) प्राप्त हुए जीव (कम्मसमुग्गं) कर्म समूह को (विहाडेंति) नष्ट कर डालते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! जो आत्माएं वैराग्य अवस्था को प्राप्त नहीं हुई है, सांसारिक भोगों में फंसी हुई हैं, वे आर्त्त रौद्र ध्यान को ध्याती हुई मानसिक कुभावनाओं के द्वारा अनिष्ट कर्मों को संचय करती हैं। और जन्म जन्मान्तर के लिये दुख सागर में गोता लगाती हैं। जिन आत्माओं की रग रगमें वैराग्य रस भरा पड़ा है, वे सदाचारों के द्वारा पूर्व संचित कर्मों को बात की बात में नष्ट कर डालती हैं।

जह रागेण कडाण कम्माणं; पावगो फलविवागो ।
जह य परिहीणकम्मा; सिद्धा सिद्धालयमुवेंति ॥६॥

अन्वयार्थ. हे इन्द्रभूति ! (जह) जैसे यह जीव (रागेण) राग द्वेष के द्वारा (कडाण) किये हुए (पावगो) पाप (कम्माणं) कर्मों के (फलविवागो) फलोदय को भोगता है। वैसे ही शुभ कर्मों के द्वारा (परिहीणकम्मा) कर्मों को नष्ट करने वाले जीव (सिद्धा) सिद्ध होकर (सिद्धालयं) सिद्धस्थान को (उवेंति) प्राप्त होते हैं ।

भावार्थः-हे आर्य ! जिस प्रकार यह आत्मा राग द्वेष करके कर्म उपार्जन कर लेती है और उन कर्मों के उदय

काल में फल भी उनका चखती है वैसे ही सदाचारों से जन्म जन्मांतरों के कृत कर्मों को सम्पूर्ण रूप से नष्ट कर डालती है। और फिर वहीं सिद्ध हो कर सिद्धालय को भी प्राप्त हो जाती है।

आलोयण निरवलावे; आवई सुदड्ढ धम्मया।
अणिस्सिउवहाणे य; सिक्खा निप्पडिकम्मया॥७॥

शब्दान्वयः-हे इन्द्रभूति! (आलोयण) आलोचना करना (निरवलावे) की हुई आलोचना अन्य के सम्मुख नहीं करना (आवई) आपदा आने पर भी (सुदड्ढधम्मया) धर्म में दृढ रहना (अणिस्सिउवहाणे) बिना किसी चाह के उपाधान तप करना (सिक्खा) शिक्षा ग्रहण करना (य) और (निप्पडिकम्मया) शरीर की शुश्रूषा नहीं करना।

भावार्थः-हे गौतम! जानते में या अजानते में किसी भी प्रकार दोषों का सेवन कर लिया हो, तो उसको अपने आचार्य के सम्मुख प्रकट करना और आचार्य उसके प्रायश्चित्त रूप में जो भी दण्ड दे उसे सहर्ष ग्रहण कर लेना, अपनी श्रेष्ठता बताने के लिए पुनः उस बात को दूसरों के सम्मुख नहीं कहना, और अनेक आपदाओं के बादल क्यों न उमड़ आवें मगर धर्म से एक पैर भी पीछे न हटना चाहिए। ऐहिक और पारलौकिक पौद्गलिक सुखों की इच्छा रहित उपाधान तप व्रत करना, सूत्रार्थ ग्रहण रूप शिक्षा धारण करना, और कामभोगों के निमित्त शरीर की शुश्रूषा भूल कर भी नहीं करना चाहिये।

अणायया अलोभेय; तितिक्खा अज्जवे सुइ।
सम्मदिट्ठी समाही य; आयारे विणओवए॥ ८॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (अणायया) दूसरों को कहे बिना ही तप करना (अलोभे) लोभ नहीं करना (तितिक्खा) परिषहों को सहन करना (अज्जवे) निष्कपट रहना (सुइ) सत्य से शुचिता रखना (सम्मदिट्ठी) श्रद्धा को शुद्ध रखना (य) और (समाही) स्वस्थ चित रहना (आयारे) सदाचारी हो कर कपट न करना (विणओवए) विनयी हो कर कपट न करना।

भावार्थः-हे गौतम ! तप व्रत धारन करके यश के लिए दूसरों को न कहना, इच्छित वस्तु पा कर उस पर लोभ न करना, दंश मशकादि कों का परिषह उत्पन्न हो तो उसे सहर्ष सहन करना, निष्कपटता पूर्वक अपना सारा व्यवहार रखना, सत्य संयमों द्वारा शुचिता रखना, श्रद्धा में विपरीतता न आने देना, स्वस्थ चित्त हो कर अपना जीवन बिताना, आचारवान हो कर कापट्यपन न दिखाना और विनयी हो कर कपट न करना।

धिईमई य संवेगे, पणिही सुविही संवरे।
अत्तदोसोवसंहारे, सव्वकाम विरत्तया॥ ९॥

दण्डान्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (धिईमई) अदीन वृति से रहना, (संवेग) संसार से उपराम हो कर रहना, (पणिहि) कायादि के अशुभ योगों को रोकना, (सुविही) सदाचार का सेवन करना। (संवरे) पापों के कारणों को

रोकना, (अत्तदोसोवसंहारे) अपनी आत्मा के दोषों का संहारण करना, (य) और (सव्वकामविरत्तया) सर्व विषयों से विरत रहना।

भावार्थः–हे गौतम ! दीन हीन वृत्ति से सदा विमुख रहना, संसार के विषयों से उपरत हो कर मोक्ष की इच्छा को हृदय में धारण करना, मन वचन काया के अशुभ व्यापारों को रोक रखना, सदाचार सेवन में रत रहना, हिंसा, झूठ, चोरी, संग, ममत्व के द्वारा आते हुए पापों को रोकना, आत्मा के दोषों को ढूण्ढ ढूण्ढ कर संहारण करना, और सब तरह की कुवासनाओं से अलग रहना।

पच्चक्खाणे विउस्सग्गे; अप्पमादे लवालवे।
ज्झाणे संवर जोगे य; उदए मारणंतिए ॥ १० ॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (पच्चक्खाणे) त्यागों की वृद्धि करना (विउस्सग्गे) उपाधि से रहित होना, (अप्पमादे) प्रमाद रहित रहना (लवालवे) अनुष्ठान करते रहना (ज्झाणे) ध्यान करना (संवर जोगे) सम्वर का व्यापार करना, (य) और (मारणंतिए) मारणांतिक कष्ट होने पर भी (उदए) क्षोभ नहीं करना।

भावार्थः–हे गौतम ! त्याग धर्म की वृद्धि करते रहना, उपाधि से रहित होना, गर्व का परित्याग करना, क्षण मात्र के लिए भी प्रमाद न करना, सदैव अनुष्ठान करते रहना, सिद्धान्तों के गम्भिर आशयों पर विचार करते रहना, शुभ

कार्य रूप संवर ही का व्यवहार करते रहना और मृत्यु भी यदि सामने आखड़ी हो तब भी क्षोभ न करना।

संगाणं य परिरणाया, पायच्छितकरणे वि य।
आराहणा य मरणंते, बत्तीसं जोगसंगहा ॥११॥

अन्वयार्थ-हे इन्द्रभूति ! (संगाणं) संभोगों के परिणाम को (परिरणाया) जान कर उनका त्याग करना (य) और (पायच्छित करणे) प्रायश्चित करना (आराहणा य-मरणंते) आराधिक हो समाधि मरण से मरना, ये (बत्तीसं) बत्तीस (जोगसंगहा) योग संग्रह हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! स्वजनादि संग रूप स्नेह के परिणाम को समझ कर उसका परित्याग करना। भूल से गलती हो जावे तो उसके लिए प्रायश्चित करना, संयमी जीवन को सार्थक कर समाधि से मृत्यु लेना, ये बतीस शिक्षाएँ योग-बल को बढानेवाली हैं। अतः इन बतीस शिक्षाओं का अपने जीवन के साथ संबंध कर लेना मानो मुक्ति को वर लेना है।

अरहंतसिद्धपवयणगुरूथेरबहुस्सुए तवस्सीसु।
वच्छलया तेसिं अभिक्खण णाणोवओगे य ॥ १२ ॥

दराडान्वयः-हे इन्द्रभूति ! (अरहंत) तीर्थंकर (सिद्ध) सिद्ध (पवयण) आगम (गुरू) महाराज (थेरं) स्थविर (बहुस्सुए) बहु श्रुत में (य) और (तवस्सीसु) तपस्वी में (वच्छलया) वात्सल्यता भाव रखता हो, (तेसिं) उन

का गुण कीर्तन करता हो, (य) और (अभिक्खण) क्षण क्षण में (णाणोवओगे) ज्ञान उपयोग आदि से जो युक्त हो।

भावार्थः--हे गौतम ! जो रागादि दोषों से रहित हैं, जिन्होंने घनघाती कर्मों को जीत लिया है, वे अरिहंत हैं। जिन्होंने सम्पूर्ण कर्मों को जीत लिया है, वे सिद्ध हैं। अहिंसामय सिद्धान्त और पँच महाव्रतों को पालने वाले गुरु हैं। ये और स्थविर, बहुश्रुत, तपस्वी इन सभी में वात्सल्य भाव रखता हो, इन के गुणों का हर जगह प्रसार करता हो और इसी तरह ज्ञान के ध्यान में बराबर लीन रहता हो।

दंसण विणए आवस्सए, सीलव्वए निरइयारं।
खणलव तवच्चियाए, वेयावच्चे समाही य ॥ १३ ॥

दण्डान्वयः-हे इन्द्रभूति ! (दंसण) शुद्ध श्रद्धा रखता हो (विणए) विनयी हो (आवस्सए) आश्यक-प्रतिक्रमण दोनों समय करता हो, (निरइयारं) दोष रहित (सीलव्वए) शीलव्रत को जो पालता हो, (खणलव) अच्छा ध्यान ध्याता हो अर्थात् सुपात्र को दान देने की भावना रखता हो (तव) तप करता हो (च्चियाए) त्याग करता हो, (वेयावच्चे) सेवा भाव रखता हो (य) और (समाही) स्वस्थ चित्त से रहता हो।

भावार्थः--हे गौतम ! जो शुद्ध श्रद्धा का अवलम्बी हो, नम्रता ने जिस के हृदय में निवास कर लिया हो, दोनों

समय साँझ और सुबह अपने पापों की आलोचन रूप प्रतिक्रमण को जो करता हो, निर्दोष शील व्रत को जो पालता हो, आर्त्त रौद्र ध्यान को अपनी ओर झाँकने तक न देता हो, अनशन व्रत का जो व्रती हो, या नियमित रूप से कम खाता हो, मिष्टान्न आदि का परित्याग करता हो, आदि इन बारह प्रकार के तपों में से कोई भी तप जो करता हो, सुपात्र दान देता हो, जो सेवा भाव में अपना शरीर अर्पण कर चुका हो, और सदैव चिन्ता रहित जो रहता हो।

अप्पुव्वणाणगहणे, सुयभत्ती पवयणे पभावणया।
एएहिं कारणेहिं, तित्थयरत्तं लहइ जीओ ॥१४॥

शब्दान्वयः–हे इन्द्रभूति! जो (अप्पुव्वणाणगहणे) अपूर्व ज्ञान को ग्रहण करता हो (सुयभत्ती) सूत्र भावों को आदर की दृष्टि से देखता हो, (पवयणे) निर्ग्रन्थ प्रवचन में (पभावणया) प्रभावना रखता हो। (एएहिं) इन (कारणेहिं) सम्पूर्ण कारणों से (तित्थयरत्तं) तीर्थंकरत्व को (जीओ) जीव (लहई) प्राप्त कर लेता है।

भावार्थः–हे आर्य! आये दिन कुछ न कुछ नवीन ज्ञान को जो ग्रहण करता रहता हो, सूत्र के सिद्धान्तों को आदर भावों से जो अपनाता हो, जिन शासन की प्रभावना-उन्नति के लिए नये नये उपाय जो ढूँढ निकालता हो, बस, इन्हीं कारणों में से किसी एक बात का भी प्रगाढ रूप से सेवन जो करता हो, वह फिर चाहे किसी भी जाति व कौम ही का व्यक्ति क्यों न हो वह भविष्य में तीर्थंकर अवश्य हो जायगा।

पाणाइवायमलियं; चोरिक्कं मेहुणं दवियमुच्छं ।
कोहं माणं मायं; लोभं पिज्जं तहा दोसं ॥ १५ ॥
कलहं अब्भक्खाणं; पेसुन्नं रइ अरइ समाउत्तं ।
परपरिवायं माया;-मोसं मिच्छत्तसल्लं च ॥ १६ ॥

दण्डान्वयः-हे इन्द्रभूति ! (पाणाइवाय) प्राणातिपात-हिंसा (मलियं) झूठ (चोरिक्कं) चोरी (मेहुणं) मैथुन (दवियमुच्छं) द्रव्य में मूर्छा (कोहं) क्रोध (माणं) मान (मायं) माया (लोभं) लोभ (पिज्जं) राग (तहा) तथा (दोसं) द्वेष (कलहं) लड़ाई (अब्भक्खाणं) कलंक (पेसुन्नं) चुग़ली (परपरिवायं) परापवाद (रइअरइ) अधर्म में आनंद और धर्म में अप्रसन्नता (मायामोसं) कपट युक्त झूठ (च) और (मिच्छत्तसल्लं) मिथ्यात्व रूप शल्य, इस प्रकार अठारह पापों का स्वरूप ज्ञानियों ने (समाउत्तं) अच्छी तरह कहा है ।

भावार्थः-हे गौतम ! प्राणियों के दश प्राणों में से किसी भी प्राण को हनन करना, मन वचन, काया से, दूसरों के मन तक को भी दुखाना, हिंसा है। इसी हिंसा से यह आत्मा मलीन होती है। इसी तरह झूठ बोलने से, चोरी करने से, मैथुन सेवन से, वस्तु पर मूर्छा रखने से, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, करने से, और परस्पर लड़ाई-झगड़ा करने से, किसी निर्दोषी पर कलंक का आरोप करने से, किसी की चुग़ली खाने से, दूसरों के अवगुणवाद बोलने से, और इसी तरह अधर्म में प्रसन्नता रखने से और धर्म में अप्रसन्नता दिखाने से, दूसरों को ठगने के लिए कपट

पूर्वक झूठ का व्यवहार करने से, और मिथ्यात्व रूप शल्य के द्वारा पीड़ित रहने से, अर्थात् विपरीत देव गुरू धर्म के मानने से, आदि इन्हीं अठारह प्रकार के पापों से जकड़ी हुई यह आत्मा नाना प्रकार के दुःख उठाती हुई, चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करती रहती है।

अज्झवसाणनिमित्ते, आहारे वेयणापराघाते।
फासे आणापाणू, सत्तविहं भिज्जए आउं ॥१७॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति! (सत्तविहं) सात प्रकार का (आउं) आयु (भिज्जए) टूटता है। (अज्झवसाणनिमित्ते) भयात्मक अध्यवसाय और दण्ड-लकड़ी-कशा चाबुक शस्त्र आदि निमित्त, (आहारे) अधिक आहार (वेयणा) शारीरिक वेदना (पराघात) खड्डे आदि में गिरने के निमित्त (फासे) सर्पादिक का स्पर्श (आणुपाणू) उच्छ्वास निश्वास का रोकना आदि कारणों से आयु का क्षय होता है।

भावार्थः--हे आर्य! सात कारणों से आयु की क्षीणता होती है। वे यों हैं:—राग, स्नेह, भय पूर्वक अध्यवसाय के आने से, दंड (लकड़ी) कशा (चाबुक) शस्त्र आदि के प्रयोग से, अधिक भोजन खा लेने से, नेत्र आदि की अधिक व्याधि होने से, खड्डे आदि में गिर जाने से, और उच्छ्वास निश्वास के रोक देने से।

जह मिउलेवालित्तं, गरुयं तुंबं अहो वयइ एवं।
आसवकायकम्मगुरु जीवा, वच्चंति अहरगइं ॥१८॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जह) जैसे (मिउलेवालित्तं) मिट्टी के लेपसे लिपटा हुआ वह (गरुयं) भारी (तुवं) तूँबा (अहो) नीचा (वयइ) जाता है। (एवं) इसी तरह (आसवकयकम्मगुरु) आश्रव कृत कर्मों द्वारा भारी हुआ (जीवा) जीव (अहरगइं) अधोगति को (वच्चंति) जाते हैं।

भावार्थः-हे गौतम! जैसे मिट्टी का लेप लगने से तूँबा भारी हो जाता है, अगर उसको पानी पर रख दिया जाय तो वह उस तह तक नीचा ही जाता जायगा। ऊपर कभी नहीं उठेगा। इसी तरह हिंसा, झूँठ चोरी, मैथुन और मूर्छा आदि आश्रव-रूप कर्म कर लेने से, यह आत्मा भी भारी हो जाती है। और यही कारण है कि तब यह आत्मा अधोगति को अपना स्थान बना लेती है।

तं चेव तव्विमुक्कं; जलोवरिं ठाइ जायलहुभाव।
जह तह कम्मविमुक्का; लोयग्गपइट्ठिया होंति॥ १६॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (तं चेव) जब वह तूँबा (तव्विमुक्कं) उस मिट्टी के लेप से मुक्त होने पर (जायलहु-भाव) हलका हो जाता है, तब वह (जलोवरिं) जल के ऊपर (ठाइ) ठहरा हुआ रह सकता है। इसी तरह (जहतह) जैसे तैसे (कम्मविमुक्का) कर्म से मुक्त हुआ जीव (लोयग्गपइट्ठिया) लोक के अग्रभाग पर स्थित (होंति) होते हैं।

भावार्थः--हे गौतम ! मिट्टी के लेप से मुक्त तूँबा जैसे पानी के ऊपर चला जाता है, वैसे ही आत्मा भी कर्म रूपी बन्धनों से सम्पूर्ण प्रकार से मुक्त हो जाने पर लोक के अग्र भाग पर जाकर स्थित हो जाती है। फिर इस दुःखमय संसार में उसको चक्कर लगाने का मौका ही नहीं आता।

॥ श्रीगौतमोवाच ॥

कहं चरे ? कहं चिट्ठे ? कहं आसे ? कहं सए ?
कहं भुंजतो ? भासंतो; पावंकम्मं न बंधइ ॥ २० ॥

अन्वयार्थः-हे प्रभु ! (कहं) कैसे (चरे) चलना ? (कहं) कैसे (चिट्ठे) ठहरना ? (कहं) कैसे (आसे) बैठना ? (कहं) कैसे (सए) सोना ? जिससे (पावं) पाप (कम्मं) कर्म (न) न (बंधइ) बँधते, और (कहं) किस प्रकार (भुंजतो) खाते हुए, एवं (भासंतो) बोलते हुए पाप कर्म नहीं बँधते।

भावार्थः--हे प्रभु ! कृपा करके इस सेवक के लिए फरमावें कि किस तरह चलना, खड़े रहना, बैठना, सोना खाना, और बोलना चाहिए जिस के द्वारा इस आत्मा पर पाप कर्मों का लेप न चढ़ने पावे।

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

जयं चरे जयं चिट्ठे; जयं आसे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो; पावं कम्मं न बंधइ ॥ २१॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (जयं) यत्ना पूर्वक (चरे) चलना (जयं) यत्ना पूर्वक (चिट्ठे) ठहरना (जयं) यत्ना पूर्वक (आसे) बैठना (जयं) यत्ना पूर्वक (सए) सोना, जिससे (पावं) पाप (कम्मं) कर्म (न) नहीं (बंधइ) बंधता है। इसी तरह (जयं) यत्ना पूर्वक (भुंजंतो) खाते हुए (भासंतो) और बोलते हुए भी पाप कर्म नहीं बँधते।

भावार्थः--हे गौतम ! हिंसा, झूँठ, चोरी, आदि का जिस में तनिक भी व्यापार न हो उसी को यत्ना कहते हैं। उसी यत्ना पूर्वक चलने से, खड़े रहने से, बैठने से और सोने से पाप कर्मों का बँधन इस आत्मा पर नहीं होता है। इसी तरह यत्ना पूर्वक भोजन करते हुए और बोलते हुए भी पाप कर्मों का बँध नहीं होता है। अतएव. हे आर्य ! तू अपनी दिन-चर्या को खूब ही सावधानी पूर्वक बना, जिस से आत्मा अपने कर्मों के द्वारा भारी न हो।

पच्छा वि ते पयाया;
खिप्पं गच्छंति अमर भवणाइं।
जेसिं पियो तवो संजमो य;
खंति य बम्भचेरं च ॥ २२ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (पच्छा वि) पीछे भी अर्थात् वृद्धावस्था में (ते) वे मनुष्य (पयाया) सन्मार्ग को प्राप्त हुए हों (य) और (जेसिं) जिस को (तवो) तप व्रत (संजमो) संयम (य) और (खंति) क्षमा (च) और (बम्भचेरं) ब्रह्मचर्य (पियो) प्रिय है, वे (खिप्पं) शीघ्र (अमरभवणाइं) देव-भवनों को (गच्छंति) जाते हैं।

भावार्थः--हे आर्य ! जो धर्म की उपेक्षा करते हुए वृद्धावस्था तक पहुँच गये हैं उन्हें भी हताश न होना चाहिए। अगर उस अवस्था में भी वे सदाचार को प्राप्त हो जाँय, और तप, संयम, क्षमा, ब्रह्मचर्य को अपना लाड़ला साथी बना लें, तो वे लोग देवलोक को प्राप्त हो सकते हैं।

तवो जोई जीवो जोइठाणं;
जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजमजोगसंती,
होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ॥

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति ! (तवो) तप रूप तो (जोई) अग्नि (जीवो) जीव रूप (जोइठाणं) अग्नि का स्थान (जोगा) योग रूप (सुया) कड़छी (सरीरं) शरीर रूप (कारिसंगं) कण्डे (कम्मेहा) कर्म रूप ईंधन-काष्ट (संजम जोग) संयम व्यापार रूप (संती) शांति-पाठ है। इस प्रकार का (इसिणं) ऋषि (पसत्थं) श्लाघनीय चारित्र रूप (होमं) होम को (हुणामि) करता हूं।

भावार्थः--हे गौतम ! तप रूप जो अग्नि है, वह कर्म रूप ईंधन को भस्म करती है जीव अग्नि का कुण्ड है। क्योंकि तप रूप अग्नि जीव संबंधिनी ही है एतदर्थ, जीव ही अग्नि रखने का कुण्ड हुआ। जिस प्रकार कुड़छी से घी आदि पदार्थों को डाल कर अग्नि को प्रदीप्त करते हैं, ठीक उसी प्रकार मन वचन और काया के शुभ व्यापारों के द्वारा तप रूप अग्नि को प्रदीप्त करना चाहिए। परन्तु शरीर के बिना

तप नहीं हो सकता है। इसीलिए शरीर रूप कण्डे, कर्म रूप ईंधन और संयम व्यापार रूप शान्ति पाठ पढ करके, मैं इस प्रकार ऋषियों के द्वारा प्रशंसनीय चारित्र साधन रूप यज्ञ को प्रतिदिन करता रहता हूँ।

धम्मे हरए बंभे संतितित्थे,
अणाविले अत्तपसन्नलेसे।
जहिंसि एहाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीति भूओ पजहामि दोसं॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (अणाविले) मिथ्यात्व करके रहित स्वच्छ (अत्तपसन्नलेसे) आत्मा के लिए प्रशंसनीय और अच्छी भावनाओं को उत्पन्न करने वाला ऐसा जो (धम्मे) धर्म रूप (हरए) द्रह और (बंभे) ब्रह्मचर्य रूप (संतितित्थे) शान्तितीर्थ है। (जहिंसि) उस में (एहाओ) स्नान करने से तथा उस तीर्थ में आत्मा को पर्यटन करते रहने से (विमलो) निर्मल (विसुद्धो) शुद्ध और (सुसीतिभूओ) राग द्वेषादि से रहित वह हो जाती है। उसी तरह मैं भी उस द्रह और तीर्थ का सेवन करके (दोसं) अपनी आत्मा को दूषित करे, उस कर्म को (पजहामि) अत्यन्त दूर रखता हूँ।

भावार्थः-हे आर्य! मिथ्यात्वादि पापों से रहित और आत्मा के लिए प्रशंसनीय एवं उच्च भावनाओं को प्रकट करने में सहाय्य भूत ऐसा जो स्वच्छ धर्म रूप द्रह है उस में इस आत्मा को स्नान कराने से, तथा ब्रह्मचर्य रूप

शान्ति-तीर्थ में यात्रा करने से शुद्ध निर्मल और रागद्वेषादि से रहित यह हो जाता है। अतः मैं भी धर्म रूप द्रह और ब्रह्मचर्य रूप तीर्थ का सेवन करके आत्मा को दूषित करने वाले अशुभ कर्मों को साँगोपाँग नष्ट कर रहा हूँ। बस, यह आत्मा शुद्धि का स्नान और उसकी तीर्थ-यात्रा है।

॥ इति निर्ग्रन्थ-प्रवचनस्य चतुर्थोऽध्यायः ॥

अध्याय पाचवां

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

तत्थ पंचविहं नाणं, सुश्रं श्राभिणिबोहिश्रं ।
श्रोहिणाणं च तइश्रं, मणणाणं च केवलं ॥ १ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति (तत्थ) ज्ञान के सम्बन्ध में (नाणं) ज्ञान (पंचविहं) पांच प्रकार का है, वह यों है। (सुश्रं) श्रुत (श्राभिणिबोहिश्रं) मति (तइश्रं) तीसरा (श्रोहिणाणं) अवधि (च) और (मणणाणं) मनः पर्यव (च) और पाँचवाँ (केवलं) केवल ज्ञान है।

भावार्थः--हे आर्य ! ज्ञान पांच प्रकार का होता है, वे पांच प्रकार यों हैः—(१) मतिज्ञान के द्वारा श्रवण करते रहने से पदार्थ का जो स्पष्ट भेदाभेद ज्ञात पड़ता है वह श्रुत ज्ञान[1] है। (२) पांचों इन्द्रिय के द्वारा जो ज्ञान होता है, वह मतिज्ञान कहलाता है (३) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि की मर्यादा पूर्वक रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष रूप

---

(१) नंदी सूत्र में श्रुत-ज्ञान का दूसरा नम्बर है। परन्तु उत्तराध्ययनजी सूत्र में श्रुत ज्ञान को पहला नम्बर दिया गया है। इस का तात्पर्य यों है कि पांचों ज्ञानों में श्रुत-ज्ञान विशेष उपकारी है। इसलिए यहां श्रुत-ज्ञान को पहले ग्रहण किया है।

से जानना यह **अवधिज्ञान** का फल है। (४) दूसरों के हृदय में स्थित भावों को प्रत्यक्ष रूप से जान लेना **मनः पर्यव ज्ञान** है। और (५) त्रिलोक और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को युगपद हस्तरेखावत् जान लेना **केवल ज्ञान** कहलाता है।

अह सव्वदव्वपरिणामभावविण्णत्ति कारणमणंतं।
सासयमप्पडिवाई एगविहं केवलं नाणं ॥ २ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (केवलं) कैवल्य (नाणं) ज्ञान (एगविहं) एक प्रकार का है। वह कैसा है ? (सव्वदव्वपरिणामभावविण्णत्ति कारणं) सर्व द्रव्यों की उत्पत्ति, ध्रुव, नाश और उनके गुणों का विज्ञान, तथा विच्छेद कराने में कारण भूत है। इसी प्रकार (अणंतं) ज्ञेय पदार्थों की अपेक्षा से अनंत है, एवं (सासयं) शाश्वत और (अप्पडिवाई) अप्रतिपाती है।

भावार्थः--हे गौतम ! कैवल्य ज्ञान का एक ही भेद है। और वह सर्व द्रव्य मात्र के उत्पत्ति, विनाश, ध्रुव और उनके गुणों एवं पारस्परिक पदार्थों की भिन्नता का विज्ञान कराने में कारणभूत है। इसी प्रकार ज्ञेय पदार्थ अनंत होने से इसे अनंत भी कहते हैं और यह शाश्वत भी है। कैवल्य ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् पुनः नष्ट नहीं होता है। इसलिए वह अप्रतिपाती भी है।

एयं पंचविहं णाणं; दव्वाण य गुणाण य ।
पज्जवाणं च सव्वेसिं; नाणं नाणीहि देसियं ॥२॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (एयं) यह (पंचविहं) पांच प्रकार का (नाणं) ज्ञान (सव्वेसिं)सर्व (दव्वाण) द्रव्य (य) और (गुणाण) गुण (य) और (पज्जवाणं) पर्यायों को (नाणं) जानने वाला है, ऐसा (नाणीहि) तीर्थंकरों द्वारा (देसियं) कहा गया है ।

भावार्थः-हे गौतम ! इन पांच प्रकार के ज्ञानों में से केवलज्ञान, सर्व द्रव्य, गुण और पर्यायों को एक ही समय में सम्पूर्ण रूप से जान लेता है। और अवशेष ज्ञान नियमित रूप से पर्यायों को जानते हैं। ऐसा सभी तीर्थंकरों ने कहा है।

गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु; उभओ अस्सिया भवे ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (गुणाणं) रूपादि गुणों का (आसओ) आश्रय जो है वह (दव्वं) द्रव्य है। और जो (एगदव्वसिया) एक द्रव्य आश्रित रहते आये

---

१ सर्व द्रव्य, गुण, पर्याय आदि को जानना, यह केवल ज्ञान का विषय है। इस आशय से गाथा में " सव्वेसिं " शब्द का प्रयोग किया गया है। और दूसरे ज्ञानों से तो नियमित पर्याय जानी जाती है।

हैं वे (गुणा) गुण हैं। (तु) और (उभओ) दोनों के (अस्सिया) आश्रित (भवे) हो, वह (पज्जवाणं) पर्यायों का (लक्खणं) लक्षण है।

भावार्थः–हे गौतम! रूपादि गुणों का जो आश्रय हो, उसको **द्रव्य** कहते हैं। और द्रव्य के आश्रित रहने वाले रूप, रस, आदि ये सब **गुण** कहलाते है। और इन दोनों के **आश्रित** जो होता है, अर्थात् द्रव्य के अन्दर गुणों का परिवर्तन होना, **पर्याय** कहलाती है।

पढमं नाणं तओ दया; एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही किं वा; नाहिइ छेय पावगं ॥४॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति! (पढमं) पहले (णाणं) ज्ञान (तओ) फिर (दया) जीव रक्षा (एवं) इस प्रकार (सव्वसंजए) सब साधु (चिट्ठइ) रहते है। (अन्नाणी) अज्ञानी (किं) क्या (काही) क्या करेंगे? (वा) और (किं) कैसे वे अज्ञानी (छेय) श्रेयस्कर और (पावगं) पापमय मार्ग को (नाहिइ) जानेंगे?

भावार्थः–हे गौतम! पहले जीव रक्षा संबंधी ज्ञान की आवश्यकता है। क्योंकि, बिना ज्ञान के जीव-रक्षा रूप क्रिया का पालन किसी भी प्रकार हो नहीं सकता, पहले ज्ञान होता है, फिर उस विषयक प्रवृत्ति होती है। संयम शील जीवन बिताने वाला मानव वर्ग भी पहले ज्ञान ही

का सम्पादन करता है फिर जीव रक्षा के लिए कटिबद्ध होता है। सच है, जिन को कुछ भी ज्ञान नहीं है, वे क्या तो दया का पालन करेंगे? और क्या हिताहित ही को पहचानेंगे? इसलिए सब से पहले ज्ञान का सम्पादन करना आवश्यकीय है।

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणइ सोच्चा; जं छेयं तं समायरे ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति! (सोच्चा) सुन कर (कल्लाणं) कल्याण कारी मार्ग को (जाणइ) जानता है, और (सोच्चा) सुन कर (पावगं) पापमय मार्ग को (जाणइ) जानता है। (उभयं पि) और दोनों को भी (सोच्चा) सुन कर (जाणइ) जानता है। (जं) जो (छेयं) अच्छा हो (तं) उसको (समायरे) अङ्गीकार करता है।

भावार्थः--हे गौतम! सुनने से हित अहित, मंगल अमंगल, पुण्य और पाप का बोध होता है। और बोध हो जाने पर यह आत्मा अपने आप श्रेयस्कर मार्ग को अङ्गीकार कर लेती है। और इसी मार्ग के आधार पर आखिर में अनंत सुखमय मोक्षधाम को भी यह पा लेती है। इसलिए महार्षियों ने भी श्रुतज्ञान ही को प्रथम स्थान दिया है।

जहा सूई ससुत्ता; पडिआ वि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते; संसारे न विणस्सइ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जहा) जैसे (ससुत्ता)

धागे के होने से (सूई) सूई के (पडिआ) गिर जाने पर भी (न) नहीं (विणस्सइ) खो जाती है। (तहा) उसी तरह (ससुत्ता) श्रुत-ज्ञान सहित (जीवे) जीव (संसारे) संसार में (न) नहीं (विणस्सइ) नाश होता है

भावार्थः-हे गौतम ! जिस प्रकार धागे वाली सूई गिर जाने पर भी खो नहीं सकती, अर्थात् पुनः शीघ्र मिल जाती है, उसी प्रकार श्रुत ज्ञान संयुक्त आत्मा कदाचित् मिथ्यात्वादि अशुभ कर्मोदय से सम्यकत्व धर्म से च्युत हो भी जाय तो वह आत्मा पुनः रत्नत्रय रूप धर्म को शीघ्रता से प्राप्त करलेती है

जावंतऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्ख संभवा।
लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणंतए ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जावंत) जितने (अविज्जा) तत्त्व ज्ञान रहित (पुरिसा) मनुष्य हैं (ते) वे (सव्वे) सब (दुक्खसम्भवा) दुःख उत्पन्न होने के स्थान रूप हैं। इसीसे वे (मूढा) मूर्ख (अणंतए) अनंत (संसारम्मि) संसार में (बहुसो) अनेकोंबार (लुप्पंति) पीड़ित होते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! तत्त्व ज्ञान से हीन जितनी भी आत्माएँ हैं, वे सबकी सब अनेकों दुःखों की भागी हैं। इस अनंत संसार की चक्र-फेरी में परिभ्रमण करती हुई वे नाना प्रकार के दुःखों को उठावेंगी। इन आत्माओं का क्षण भर के

लिए भी अपने कृत कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं होता है। हे गौतम! इस कदर ज्ञान की मुख्यता बताने पर तुझे यों न समझ लेना चाहिए, कि मुक्ति केवल ज्ञान ही से होती है बल्कि उसके साथ क्रिया की भी ज़रूरत है। ज्ञान और क्रिया इन दोनों के होने पर ही मुक्ति हो सकती है।

इह मेगे उ मएणंति, अप्पच्चक्खाय पावगं।
आयरिअं विदित्ताणं, सव्व दुक्खा विमुच्चई ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति! (उ) फिर इस विषय में (इह) यहाँ (मेगे) कई एक मनुष्य यों (मएणंति) मानते हैं कि (पावगं) पाप का (अप्पच्चक्खाय) बिना त्याग किये ही केवल (आयरिअं) अनुष्ठान को (विदित्ताणं) जान लेने ही से (सव्वदुक्खा) सब दुःखों से (विमुच्चई) मुक्त हो जाता है।

भावार्थः--हे आर्य! कई एक लोग ऐसे भी हैं, जो यह मानते हैं, कि पाप के बिना ही त्यागे, अनुष्ठान मात्र को जान लेने से मुक्ति हो जाती है। पर उनका ऐसा मानना नितान्त असंगत है। क्योंकि, अनुष्ठान को जान लेने ही से मुक्ति नहीं हो जाती है। मुक्ति तो तभी होगी, जब उस विषय की प्रवृत्ति की जायगी। अतः मुक्ति पथ में ज्ञान और क्रिया दोनों की आवश्यक्ता होती है। जिसने सद् ज्ञान के अनुसार अपनी प्रवृत्ति करली हैं, उसके लिए मुक्ति सच-मुच ही अति निकट हो जाती है। फक़्त, ज्ञान मात्र ही से मुक्ति नहीं होती है।

भणंता अकरिंता य, बंधमोक्खपइण्णिणो ।
वायाविरियमेत्तेणं, समासासंति अप्पयं ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (बंधमोक्खपइण्णिणो) ज्ञान ही को बंध और मोक्ष का कारण मानने वाले, कई एक लोग ज्ञान ही से मुक्ति होती है, ऐसा (भणंता) बोलते हैं । (य) परन्तु (अकरिंता) अनुष्ठान वे नहीं करते । अतः वे लोग (वायाविरियमेत्तेणं) इस प्रकार वचन की वीरता मात्र ही से (अप्पयं) आत्मा को (समासासंति) अच्छी तरह आश्वासन देते हैं ।

भावार्थः-हे गौतम ! कर्मों का बंधन और शमन केवल एक ज्ञान ही से होता है, ऐसी है मानने की प्रतिज्ञा जिनकी ऐसे वे कई एक लोग अनुष्ठान की उपेक्षा करके यों बोलते हैं, कि ज्ञान ही से मुक्ति हो जाती है, परन्तु वे ज्ञान वादी लोग केवल अपने बोलने की वीरता मात्र ही से अपनी आत्मा को विश्वास देते हैं, कि हे आत्मा ! तू कुछ भी चिन्ता मत कर । तू पढ़ी लिखी है, बस, इसीसे कर्मों का मोचन हो जावेगा । तप, जप किसी भी अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है । हे गौतम ! इस प्रकार आत्मा को आश्वासन देना, मानो आत्मा को धोखा देना है । क्योंकि, ज्ञान पूर्वक अनुष्ठान करने ही से कर्मों का मोचन होता है । इसीलिए मुक्ति पथ में ज्ञान और क्रिया दोनों की आवश्यकता होती है ।

ण चित्ता तायए भासा; कओ विज्जाणुसासणं ।
विसण्णा पावकम्मेहिं; बाला पंडियमाणिणो ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (पंडियमाणिणो) अपनी आत्मा को पण्डिता मानने वाला (बाला) अज्ञानी जन (पावकम्मेहिं) पाप कर्मों द्वारा (विसण्णा) फँसे हुए यह नहीं जानते हैं कि (चित्ता) विचित्र प्रकार की (भासा) भाषा (तायए) त्राण शरण होती है क्या ? (ण) नहीं। तो फिर (विज्जाणुसासणं) तांत्रिक या कला कौशल की विद्या सीख लेने पर (कओ) कहां से त्राण शरण होगी।

भावार्थ:-हे गौतम ! थोड़ा बहुत लिख पढ़ जाने ही से मुक्ति हो जायगी इस प्रकार का गर्व करने वाली आत्माएँ महान् मूर्ख हैं। कर्मों के आवरण ने उनके असली प्रकाश को ढँक रक्खा है। वे यह नहीं जानतीं कि प्राकृत संस्कृत आदि अनेकों विचित्र भाषाओं के सीख लेने पर भी पर लोक में कोई भाषा, रक्षक नहीं हो सकती है। तो फिर बिना अनुष्ठान के तांत्रिक कला-कौशल की साधारण विद्या की तो पूछ ही क्या है ? वस्तुतः साधारण पढ़ लिख कर यह कहना कि ज्ञान ही से मुक्ति हो जायगी, आत्मा को धोखा देना है, आत्मा को अधोगति में डालना है।

जे केइ सरीरे सत्ता; वण्णे रूवे अ सव्वसो।
मणसा कायवक्केणं; सव्वे ते दुक्खसम्भवा ॥ १० ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जे केइ) जो कोई भी ज्ञान वादी (मणसा) मन (कायवक्केणं) काय, वचन करके (सरीरे) शरीर में (वण्णे) वर्ण में (रूवे) रूप में (अ) शब्दादि में (सव्वसो) सर्वथा प्रकार से (सत्ता) आसक्त रहते हैं (ते) वे (सव्वे) सब (दुक्खसम्भवा) दुःख उत्पन्न होने के स्थान रूप हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! ज्ञान वादी अनुष्ठान को छोड़ देते हैं। और रूप गर्व में मदोन्मत्त होने वाले अपने शरीर को हृष्ट पुष्ट रखने के लिए वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, आदि में मन, वचन, काया से पूरे पूरे आसक्त रहते हैं, फिर भी वे मुक्ति की आशा करते हैं। यह मृग-पिपासा है, अन्ततः ये सब दुःख ही के भागी होंगे।

निम्ममो निरहंकारो; निस्संगो चत्तगारवो।
समो अ सव्वभूएसु; तसेसु थावरेसु य ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! महापुरुष वही है, जो (निम्ममो) ममता रहित (निरहंकारो) अहंकार रहित (निस्संगो) बाह्य अभ्यन्तर संग रहित (अ) और (चत्तगारवो) त्याग दिया है बड़प्पन को जिसने (सव्वभूएसु) तथा सर्व प्राणी मात्र क्या (तसेसु) त्रस (अ) और (थावरे सु) स्थावर में (समो) समान भाव है जिसका।

भावार्थः-हे गौतम ! महापुरुष वही है जिसने समता, अहंकार, संग, बड़प्पन आदि सभी का साथ एकान्त रूप से छोड़ दिया है। और जो प्राणी मात्र पर फिर चाहे वह कीड़े मकोडे के रूप में हो, या हाथी के रूप में, सभी के ऊपर समभाव रखता है।

लाभालाभे सुहे दुक्खे; जीविए मरणे तहा।
समो निंदापसंसासु; समो माणवमाणओ ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! महापुरुष वही है जो (लाभालाभे) प्राप्ति-अप्राप्ति में (सुहे) सुख में (दुक्खे) दुःख में (जीविए) जीवन (मरणे) मरण में (समो)

समान भाव रखता है। तथा (निंदापसंसासु) निंदा और प्रसंशा में एवं (माणवमाणओ) मान अपमान में (समो) समान भाव रखता है।

भावार्थः-हे गौतम ! मानव देहधारियों में उत्तम पुरुष वही है, जो इच्छित अर्थ की प्राप्ति-अप्राप्ति में, सुख दुःख में, जीवन-मरण में वैसे ही निन्दा और स्तुति में, और मान अपमान में सदा समान भाव रखता है।

अणिस्सिओ इहं लोए; परलोए अणिस्सिओ।
वासीचंदणकप्पो अ; असणे अणसणे तहा ॥१३॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (इहं) इस (लोए) लोक में (अणिस्सिओ) अनैश्रित (परलोए) परलोक में (अणिस्सिओ) अनैश्रित (अ) और किसी के द्वारा (वासी-चंदणकप्पो) वसूले से छेदने पर या चंदन का विलेपन करने पर और (असणे) भोजन खाने पर (तहा) तथा (अणसणे) अनशन व्रत, सभी में समान भाव रखता हो, वही महापुरुष है।

भावार्थः--हे गौतम ! मोक्षाधिकारी वे ही मनुष्य हैं, जिन्हें इस लोक के वैभवों और स्वर्गीय सुखों की चाह नहीं होती है। कोई उन्हें वसूले (शस्त्र विशेष) से छेदें या कोई उन पर चन्दन का विलेपन करें, उन्हें भोजन मिले या फ़ाकाकशी करना पड़े, इन सम्पूर्ण अवस्थाओं में सदा सर्वदा समभाव से रहते हैं।

॥ इति निर्ग्रन्थ-प्रवचनस्य पञ्चमोऽध्यायः ॥

अध्याय-छट्ठा

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

अरिहंतो महदेवो; जावज्जीवाए सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्तं तत्तं; इअ सम्मत्तं मए गहियं ॥ १ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जावज्जीवाए) जीवन पर्यन्त (अरिहंतो) अरिहंत (महदेवो) बड़े देव (सुसाहुणो) सुसाधु (गुरुणो) गुरु और (जिणपण्णत्तं) जिनराज के प्ररूपित (तत्तं) तत्व को मानना यही सम्यक्त्व है (इअ) इस (सम्मत्तं) सम्यक्त्व को (मए) मैंने (गहियं) ग्रहण किया ऐसी जिसकी बुद्धि है वही सम्यक्त्व धारी है।

भावार्थः--हे गौतम! आजीवन जो इस प्रकार से मानता है कि कर्म रूप शत्रुओं को नष्ट करके जिन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया है। और अष्टादश दोषों से रहित हैं। वह मेरे देव हैं। पांच महाव्रतों को यथा योग्य पालन करते हों वह मेरे गुरु हैं। और वीतराग के कहे हुए तत्व ही मेरा धर्म है। इस प्रकार के सम्यक्त्व को जिसने हृदयंगम कर लिया है, बस, वही सम्यक्त्व धारी है।

परमत्थ संथवो वा सुदिट्ठ परमत्थसेवणा यावि।
वावण्ण कुदंसणवज्जणा, य सम्मत्त सद्दहणा ॥२॥

अन्वयार्थ--हे इन्द्रभूति! (परमत्थसंथवो) तात्विक पदार्थ का चिन्तवन करना (वा) और (सुदिट्ठपरमत्थ-

सेवणा) अच्छी तरह से देखे हैं तात्विक अर्थ जिन्होंने उनकी सेवा शुश्रूषा करना (य) और (अवि) समुच्चय अर्थ में (वावण्ण कुदंसणवज्जणाए) नष्ट हो गया है सम्यक्त्व दर्शन जिसका, और दोषों से करके सहित है, दर्शन जिसका उसकी संगत परित्यागना, यही (सम्मत्तसद्दहणा) सम्यक्त्व की श्रद्धना है।

भावार्थः--हे गौतम ! फिर जो बारंबार तात्विक पदार्थ का चिन्तवन करता है। और जो अच्छी तरह से तात्विक अर्थ पर पहुँच गये हैं, उन की यथा योग्य सेवा शुश्रूषा करता हो, तथा जो सम्यक्त्व दर्शन से पतित हो गये हैं, व जिन का "दर्शन सिद्धान्त" दूषित है, उन की संगत परित्यागता हो वही सम्यक्त्व पूर्वक श्रद्धावान् है।

कुप्पावयणपासंडी; सव्वे उम्मग्गपट्ठिआ ।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं; एस मग्गे हि उत्तमे॥२॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (कुप्पावयणपासंडी) दूषित वचन कहने वाले (सव्वे) सभी (उम्मग्गपट्ठिआ) उन्मार्ग में चलने वाले होते हैं। (तु) और (जिणक्खायं) श्री वीतराग का कहा हुआ मार्ग ही (सम्मग्गं) सन्मार्ग है। (एस) यह (मग्गे) मार्ग (हि) निश्चय रूप से (उत्तमे) प्रधान है। ऐसी जिस की मानता है। वही सम्यक्त्व पूर्वक श्रद्धावान् है।

भावार्थः--हे गौतम ! हिंसामय दूषित वचन बोलने वाले हैं वे सभी ठगोरे हैं। उन लोगों का मार्ग ऊटपटाँग है। सत्य मार्ग जो है, वह राग द्वेष रहित और आप्त पुरुषों का बताया हुआ

होता है। वही मार्ग सब से उत्तम है, प्रधान है, ऐसी जिसकी निश्चय पूर्वक मान्यता है वही सम्यक् श्रद्धावान् है।

तहिआणं तु[1] भावाणं; सब्भावे उवएसणं।
भावेण सद्दहंतस्स; सम्मत्तं ति विआहिअं ॥४॥

अन्वयार्थः- हे इन्द्रभूति ! (सब्भवे) सद्भावनावाले के द्वारा कहे हुए (तहिआणं) सत्य (भावाणं) पदार्थों का (उवएसणं) उपदेश (भावेण) भावना से (सद्दहं-तस्स) श्रद्धापूर्वक वर्तने वाले को (सम्मत्तं ते) सम्यक्त्व है, ऐसा (विआहिअं) वीतरागों ने कहा है।

भावार्थः-हे गौतम ! सद्भावना है जिसकी उसके द्वारा कहे हुए यथार्थ पदार्थों को जो भावना पूर्वक श्रद्धा के साथ मानता हो, वही सम्यक्त्वी है ऐसा सभी तीर्थंकरों ने कहा है।

निस्सग्गुवएसरुई; आणारुई सुत्तबीअरुइमेव।
अभिगमवित्थाररुई; किरियासंखेवधम्मरुई ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (निस्सग्गुवएसरुई) बिना उपदेश, स्वभाव से और उपदेश से जो रुचि हो (आणारुई) आज्ञा से रुचि हो (सुत्तबीअरुइमेव) श्रुत श्रवण से एवं एक से अनेक अर्थ निकलते हों वैसे वचन सुनने से रुचि हो (अभिगमवित्थाररुई) विशेष विज्ञान होने पर तथा बहुत विस्तार से सुनने से रुचि हो (किरि-

1 तु शब्दस्तु पादपूर्त्यर्थः

यासंखेवधम्मरुई) क्रिया करते करते तथा संक्षेप से था श्रुत धर्म श्रवण से रुचि हो।

भावार्थः-हे गौतम ! उपदेश श्रवण न करके स्वभाव से ही तत्व की रुचि होने पर किसी किसी को सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। किसीको उपदेश सुनने से, किसीको भगवान की इस प्रकार की आज्ञा है ऐसा, सुनने से, सूत्रों के श्रवण करने से, एक शब्द को जो बीज की तरह अनेक अर्थ बताता हो ऐसा वचन सुनने से, विशेष विज्ञान हो जाने से, विस्तार पूर्वक अर्थ सुनने से, धार्मिक अनुष्ठान करने से, संक्षेप अर्थ सुनने से, श्रुत धर्म के मनन पूर्वक श्रवण करने से तत्वों की रुचि होने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं; दंसणे उ भइअव्वं।
सम्मत्तचरित्ताइं; जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (सम्मत्तविहूणं) सम्यक्त्व के बिना (चरित्तं) चारित्र (नत्थि) नहीं है (उ) और (दंसणे) दर्शन में (भइअव्वं) चारित्र ही का भावाभाव है। (सम्मत्तचरित्ताइं) सम्यक्त्व और चारित्र (जुगवं) एक साथ भी होते हैं। (व) अथवा (सम्मत्तं) सम्यक्त्व चारित्र के (पुव्वं) पूर्व भी होता है।

भावार्थः-हे आर्य ! सम्यक्त्व के बिना चारित्र का उदय होता ही नहीं है। पहले सम्यक्त्व होगा, फिर सम्यक्त्व चारित्र का अनुयायी हो सकता है, और सम्यक्त्व में चारित्र का भावाभाव है, क्योंकि सम्यक्त्वी कोई गृहस्थ

धर्म का पालन करता है, और कोई मुनि धर्म का। सम्यक्त्व और चारित्र की उत्पत्ति एक साथ भी होती है। अथवा चारित्र, मुनि-धर्म के पहले भी सम्यक्त्व की प्राप्ति हो सकती है।

नादंसणिस्स नाणं;
नाणेणं विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो,
नत्थि अमुक्कस्स निव्वाणं ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (अदंसणिस्स) सम्यक्त्व से रहित मनुष्य को (नाणं) ज्ञान (न) नहीं होता है। और (नाणेण) ज्ञान के (विणा) बिना (चरणगुणा) चारित्र के गुण (न) नहीं (हुंति) होते हैं। और (अगुणिस्स) चारित्र रहित मनुष्य को (मोक्खो) कर्मों से मुक्ति (नत्थि) नहीं होती है। और (अमुक्कस्स) कर्म रहित हुए बिना किसी को (निव्वाणं) मोक्ष (नत्थि) नहीं प्राप्त हो सकता है।

भावार्थः—हे गौतम ! सम्यकत्व के प्राप्त हुए बिना मनुष्य को सम्यक् ज्ञान नहीं मिलता है, ज्ञान के बिना आत्मिक गुणों का प्रकट होना दुर्लभ है, बिना आत्मिक गुण प्रकट हुए उसके जन्म जन्मान्तरों के संचित कर्मों का क्षय होना दुसाध्य है। और कर्मों का नाश हुए बिना किसी को मोक्ष नहीं मिल सकता है। अतः सब के पहले सम्यकत्व की आवश्यकता है।

निस्संकिय निक्कंखिय,
निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह—थिरीकरणे,
वच्छल्लपभावणे अट्ठ ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! सम्यकत्व धारी वही है, जो (निस्संकिय) निःशंकित रहता है, (निक्कंखिय) अतत्वों की काँक्षा रहित रहता है। (निव्वितिगिच्छा) सुकृतों के फल होने में संदेह रहित रहता है। (य) और (अमूढ़दिट्ठी) जो अतत्वधारियों को ऋद्धिवन्त देख कर मोह न करता हुआ रहता है। (अववूह-थिरीकरणे) सम्यकत्वी के दृढ़ता की प्रशंसा करता रहता है। सम्यकत्व से पतित होते हुए को स्थिर करता (वच्छल्लपभावणे) स्वधर्मी जनों की सेवा शुश्रूषा कर वात्सल्यभाव दिखाता रहता है। और आठवें में जो जैन दर्शन की उन्नति करता रहता है।

भावार्थः--हे आर्य ! सम्यकत्वधारी वही है, जो शुद्ध देव, गुरु, धर्म, रूप तत्वों पर निःशंकित हो कर श्रद्धा रखता है। कुदेव कुगुरु कुधर्म रूप जो अतत्व हैं, उन्हें ग्रहण करने की तनिक भी अभिलाषा नहीं करता है। गृहस्थ-धर्म या मुनि धर्म से होने वाले फलों में जो कभी भी संदेह नहीं करता। अन्य दर्शनी को धन सम्पत्ति से भरा पूरा देख कर जो ऐसा विचार नहीं करता कि मेरे दर्शन से इस का दर्शन ठीक है, तभी तो यह इतना धनवान् है, सम्यकत्वधारियों की यथायोग्य प्रशंसा कर के जो उन के सम्यकत्व के गुणों की वृद्धि करता है, सम्यकत्व से पतित होते हुए अन्य पुरुष

को यथा शक्ति प्रयत्न करके सम्यकत्व में जो दृढ़ करता है। स्वधर्मी जनों की सेवा शुश्रूषा करके जो उनके प्रति वात्सल्य भाव दिखाता है।

मिच्छादंसणरत्ता; सनियाणा हु हिंसगा।
इय जे मरंति जीवा; तेसिं पुण दुल्लहा बोही॥ ९॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (मिच्छादंसणरत्ता) मिथ्या-दर्शन में रत रहने वाले और (सनियाणा) निदान करनेवाले (हिंसगा) हिंसा करने वाले (इय) इस तरह (जे) जो (जीवा) जीव (मरंति) मरते हैं। (तेसिं) उन को (पुण) फिर (बोही) सम्यकत्व धर्म का मिलना (हु) निश्चय (दुल्लहा) दुर्लभ है।

भावार्थः—हे आर्य! कुदेव कुगुरु कुधर्म में रत रहने वाले और निदान (Begging of the fruit of a panance in the every beginning) सहित धर्म क्रिया करने वाले, एवं हिंसा करने वाले जो जीव हैं, वे इस प्रकार अपनी प्रवृत्ति करके मरते हैं, तो फिर उन्हें अगले भव में सम्यकत्व बोधका मिलना महान् कठिन है।

सम्मद्दंसणरत्ता अनियाणा; सुक्कलेसमोगाढा।
इय जे मरंति जीवा; सुलहा तेसिं भवे बोहि॥१०॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (सम्मद्दंसणरत्ता) सम्यकत्व दर्शन में रत रहनेवाले (अनियाणा) निदान नहीं करनेवाले एवं (सुक्कलेसमोगाढा) शुक्ल लेश्या से

समन्वित हृदय वाले। (इय) इस तरह (जे) जो (जीवा) जीव (मरंति) मरते हैं (तेसिं) उन्हें (बोही) सम्यकत्व (सुलहा) सुलभतासे (भवे) प्राप्त हो सक्ता है।

भावार्थः-हे गौतम! जो शुद्ध देव, गुरु, और धर्म रूप दर्शन में श्रद्धा पूर्वक सदैव रत रहता हो। निदान-रहित तप, धर्म क्रिया करता हो, और शुद्ध परिणामों करके हृदय उमंग जिसका रहा हो। इस तरह प्रवृत्ति रख करके जो जीव मरते हैं, उन्हें धर्म बोध की प्राप्ति अगले भव में सुगमतासे होती जाती है।

जिणवयणे अणुरत्ता; जिणवयणं जे करिंति भावेणं।
अमला असंकिलिट्ठा; ते होंति परित्तसंसारी ॥११॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जे) जो जीव (जिणवयणे) वीतरागों के वचनों में (अणुरत्ता) अनुरक्त रहते हैं। और (भावेणं) श्रद्धापूर्वक (जिणवयणं) जिन वचनों को प्रमाण रूप (करिंति) मानते हैं (अमला) मिथ्यात्व रूप मल करके रहित एवं (असंकिलिट्ठा) संक्लेश करके रहित जो हों, (ते) वे (परित्तसंसारी) अल्प संसारी होते हैं।

भावार्थः-हे आर्य! जो वीतरागों के कहे हुए वचनों में अनुरक्त रह कर उनके वचनों को प्रमाण भूत जो मानते हैं, तथा मिथ्यात्व रूप दुर्गुणों से बचते हुए राग द्वेष से दूर रहते हैं, वे ही सम्यकत्व को प्राप्त करके, अल्प समय में ही मोक्ष को पहुँच जाया करते हैं।

जातिं च वुड्ढिं च इहज्ज पास;
　　भूतेहिं जाणे पडिलेह सायं ।
तम्हा तिविज्जो परमंति णच्चा;
　　सम्मत्तदंसी ण करेति पावं ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (जातिं) जन्म (च) और (वुड्ढिं) वृद्धपन को (इहज्ज) इस संसार में (पास) देख कर (च) और (भूतेहिं) प्राणियों करके (सायं) साता को (जाणे) जान (पडिलेह) देख (तम्हा) इसलिये (विज्जो) तत्त्वज्ञ (परमं) मोक्ष मार्ग (ति) ऐसा (णच्चा) जान कर (सम्मत्तदंसी) सम्यकत्व दृष्टि वाले (पावं) पाप को (ण) नहीं (करेति) करता है

भावार्थः--हे गौतम ! इस संसार में जन्म और मरण के महान् दुखों को तू देख और इस बात का ज्ञान प्राप्त कर कि सब जीवों को सुख प्रिय है, और दुख अप्रिय है । इसलिये ज्ञानी जन मोक्ष के मार्ग को जान कर वे सम्यकत्व धारी बन कर किंचित् मात्र भी पाप नहीं करते हैं ।

इओ विद्धंसमाणस्स; पुणो संबोहि दुल्लहा ।
दुल्लहाउ तहच्चाउ; जे धम्मट्ठं वियागरे ॥१३॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (इओ) यहाँ से (विद्धंसमाणस्स) मरने के बाद उसको (पुणो) फिर (संबोहि) धर्म बोधकी प्राप्ति होना (दुल्लहा) दुर्लभ है । उससे भी कठिन (जे) जो (धम्मट्ठं) धर्म रूप अर्थ का (वियागरे)

प्रकाश करता है, ऐसा (तहच्चाउ) तथा भूत का मानव शरीर मिलना अथवा सम्यकत्व की प्राप्ति तथा योग्य भावना का उस में आना (दुल्लहा) दुर्लभ है।

भावार्थः-हे गौतम ! जो जीव सम्यकत्व से पतित होकर यहां से मरता है। उस को फिर धर्म बोध की प्राप्ति होना महान् कठिन है। इस से भी यथातथ्य धर्म रूप अर्थ का प्रकाशन जिस मानव शरीर से होता रहता है। ऐसा मनुष्य देह अथवा सम्यकत्व की प्राप्ति के योग्य उच्च लेश्याओं (भावनाओं) का आना महान् कठिन है।

॥ इति निर्ग्रन्थ-प्रवचनस्य षष्ठोऽध्यायः ॥

अध्याय सातवां

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

महव्वए पंच अणुव्वए य,
तहेव पंचासवसंवरे य ॥
विरतिं इह सामणियंमि पन्ने,
लवावसक्की समणेत्तिबेमि ॥ १ ॥

अन्वयार्थः-हे मनुजो! (इह) इस जिन शासन में (सामणियंमि) चारित्र पालन करने में (पन्ने) बुद्धिमान् और (लवावसक्की) कर्म तोड़ने में समर्थ ऐसे (समणे) साधु (पंच) पांच (महव्वए) महाव्रत (य) और (अणुव्वए) पांच अणुव्रत (य) और (तहेव) वैसे ही (पंचासवसंवरेय) पाँच आश्रव और संवर रूप (विरतिं) विरति को (त्तिबेमि) कहता हूँ।

भावार्थः-हे मनुजो ! सच्चारित्र के पालन करने में महा बुद्धिशाली और कर्मों को नष्ट करने में समर्थ ऐसे श्रमण भगवंत महावीर ने इस शासन में साधुओं के लिये तो पांच महाव्रत अर्थात् अहिंसा, सत्य. अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अकिंचन को सब प्रकार से पालने की आज्ञा दी है, और गृहस्थों के लिये कम से कम पांच अणुव्रत और सात

शिक्षा व्रत यों बारह प्रकार से धर्म को धारण करना, आवश्यकीय बताया है। वे इस प्रकार हैः—**थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं**—हिलते फिरते त्रस जीवों की बिना अपराध के देख भाल कर द्वेष वश मारने की नियत से हिंसा न करना। **मुसावायाओ वेरमणं**--जिस भाषा से अनर्थ पैदा होता हो और राज एवं पंचायत में अनादर हो, ऐसी लोक विरूद्ध असत्य भाषा को तो कम से कम नहीं बोलना। **थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं**—गुप्त रीति से किसी के घर में घुस कर, गांठ खोल कर, ताले पर कुंजी लगा कर, लुटेरे की तरह या और भी किसी तरह की जिससे व्यवहार मार्ग में भी लज्जा हो, ऐसी चोरी तो कम से कम नहीं करना। **सदारसंतोसे** * कुल के अग्रसरों की साक्षी से जिसके साथ विवाह किया है उस स्त्री के सिवाय अन्य स्त्रियों को माता एवं बहिन और बेटी की निगाह से देखना और अपनी स्त्री के साथ भी कम से कम अष्टमी, चतुर्दशी, एकादशी, बीज, पंचमी, अमावस्या, पूर्णिमा के दिन तो व्यभिचार का त्याग करना। **इच्छापरिमाणे**--खेत, कुए, सोना, चांदी,

---

* गृहस्थ-धर्म पालन करने वाली महिलाओं के लिए भी अपने कुल के अग्रसरों की साक्षी से विवाहित पुरुष के सिवाय समस्त पुरुष वर्ग को पिता भ्राता और पुत्र के समान समझना चाहिए। और स्वपति के साथ भी कम से कम पर्व तिथियों पर कुशील सेवन का परित्याग करना चाहिए।

धान्य, पशु, आदि सम्पत्ति का कम से कम जितनी इच्छा हो उतनी ही का परिमाण करना । ताकि परिमाण से अधिक सम्पत्ति प्राप्त करने की लालसा का बंधन हो जाय । यह भी गृहस्थ का एक धर्म है । गृहस्थ को अपने छट्ठे धर्म के अनुसार, **दिसिव्वयं** चारों दिशा और ऊंची नीची दिशाओं में गमन करने का अन्दाज़ कर लेना । सातवें में **उपभोग-परिभोग परिमाण**-खाने पीने की वस्तुओं की और पहनने की वस्तुओं की सीमा बांधना ऐसा करने से कभी वह तृष्णा के साथ भी विजय प्राप्त कर लेता है । फिर उससे मुक्ति भी निकट आजाती है । इसका विशेष विवरण यों है:—

इंगाली, वण, साडी,
भाडी फोडी सुवज्जए कम्मं ।
वाणिज्जं चेव य दंत,
लक्खरसकेस विसविसयं ॥ २ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (इंगाली) कोयले पड़वाने का (वण) वन कटवाने का (साडी) गाड़ियें बनाकर बेचने का (भाडी) गाड़ी, घोड़े, बैल, आदि से भाड़ा कमाने का (फोडी) खानें आदि खुदवाने का (कम्मं) कर्म गृहस्थ को (सुवज्जए) परित्याग कर देना चाहिए ।(य)और (दंत) हाथी दांत का (लक्ख) लाख का (रस) मधु आदि का (केस) मुर्गों कबूतरों आदि बेचने का (विसविसयं) ज़हर और शस्त्रों आदि का (वाणिज्जं) व्यापार (चेव) यह भी निश्चय रूप से गृहस्थों को छोड़ देना चाहिए ।

भावार्थः-हे आर्य ! गृहस्थ धर्म पालन करनेवालों को कोलसे तैयार करवा कर बेचने का या कुम्हार, लुहार, भड़भूंजे आदि के काम जिनमें महान् अग्नि का आरंभ होता है, ऐसे कर्म नहीं करना चाहिए। वन, झाड़ी, कटवाने का ठेका वग़ैरह लेने का या वनस्पति, पान, फल, फूलों की उत्पत्ति करवा कर बेचनेका, इक्के, गाड़ी, वग़ैरह तैयार करवा कर बेचने का, बैल, घोड़े, ऊँट आदि को भाड़े से फिराने का, या इक्के, गाड़ी, वग़ैरह भाड़े फिरा करके आजीविका कमाने का और खानें आदि को खुदवाने का कर्म आजीवन के लिये छोड़ देना चाहिए। और व्यापार संबँध में हाथी-दाँत, चमड़े आदि का लाख का, मदिरा शहद आदि का, कबूतर, बटेर, तोते, कुक्कट, बकरे आदि का, संखिया, वच्छनाग आदि जिनके खाने से मनुष्य मरजाते हैं, ऐसे ज़हरीले पदार्थों का या तलवार, बंदूक, बरछी आदि का व्यापार कम से कम गृहस्थ-धर्म पालन करनेवाले को कभी भूल कर भी नहीं करना चाहिए।

एवं खु जंतपिल्लण कम्मं; निल्लंछणं च दवदाणं।
सरदहतलायसोसं; असईपोसं च वज्जिज्जा ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (एवं) इस प्रकार (खु) निश्चय करके (जंतपिल्लण) यंत्रों के द्वारा प्राणियों को बाधा पहुँचे ऐसा (च) और (निल्लंछणं) अरडकोष फुड़वाने का (दवदाणं) दावानल लगाने का (सरदह-तलायसोसं) सर, द्रह, तालाब की पाल फोड़ने का (च) और (असईपोसं) दासी वेश्यादि का पोषण (कम्मं) कर्म (वज्जिज्जा) छोड़ देना चाहिए।

भावार्थः–हे गौतम ! फिरभी इसी तरह गृहस्थ-धर्म पालन करनेवालों को, ऐसे कई प्रकार के यंत्र हैं, कि जिनके द्वारा पंचेन्द्रियों के अवयवों का छेदन-भेदन होता हो। अथवा यंत्रादिकों के बनाने से प्राणियों को पीड़ा हो, आदि ऐसे यंत्र संबंधी-धँधों का परित्याग कर देना चाहिए और बैल आदि को नपुंसक अर्थात् खसी करने का, दावानल सुलगाने का, बिना खोदी हुई जगह पर पानी भरा हुआ हो, ऐसा सर, एवं खूब जहाँ पानी भरा हुआ हो ऐसा द्रह तथा तालाब, कूआ, बावड़ी आदि जिसके द्वारा बहुत से जीव पानी पीकर अपनी तृषा बुझाते हैं। उनकी पाल फोड़ कर पानी निकाल देने का, दासी वेश्या आदि को व्यभिचार के निमित्त या चूहों को मारने के लिये बिल्ली आदि का पोषण करना, आदि आदि कर्म गृहस्थी को जीवन भर के लिए छोड़ देना ही सच्चा गृहस्थ-धर्म है। गृहस्थ का आठवाँ धर्म-अण त्थदंडवेरमणं--हिंसक विचारों, अनर्थकारी बातें आदि का परित्याग करना है। गृहस्थ का नौवाँ धर्म यह है, कि **सामाइयं**–दिन भर में कम से कम एक अन्तर मुहूर्त्त (४८ मिनिट) तो ऐसा बितावें कि संसार से बिलकुल ही विरक्त हो कर उस समय वह आत्मिक गुणों का चिन्तवन कर सकें। गृहस्थ का दशवाँ धर्म है **देसावगासियं**--जिन पदार्थों की छूट* रक्खी है, उनका फिर भी त्याग करना और निर्धारित समय के लिए सांसारिक झँझटों से पृथक् रहना। ग्यारहवाँ धर्म यह है, कि **पोसहोववासे**--कम से कम महीने भर में प्रत्येक अष्टमी

---

* आगार

चतुर्दशी पूर्णिमा और अमावस्या को पौषध [The 11th vow of a layman in which he has to abandon all sinful activities for a day and has to remain in a Religious place fasting] करे। अर्थात् इन दिनों में तो वे सम्पूर्ण सांसारिक झंझटों को छोड़ छाड़ कर अहोरात्रि आध्यात्मिक विचारों का मनन किया करें। और बारहवाँ गृहस्थ का धर्म यह है कि अतिहिसंयअस्स विभाग-अपने घर पर आये हुए अतिथि का सत्कार कर उन्हें भोजन वे देते रहें। इस प्रकार गृहस्थ को अपने गृहस्थ धर्म का पालन करते रहना चाहिए।

यदि इस प्रकार गृहस्थ का धर्म पालन करते हुए कोई उत्तीर्ण हो जाय और वह फिर आगे बढ़ना चाहे तो इस प्रकार प्रतिमा धारण कर गृहस्थ जीवन को सुशोभित करे।

दंसणवयसामाइय पोसह पडिमा य बंभ अचिते।
आरंभपेसउदिट्ठ वज्जए समणभूए य ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (दंसणवयसामाइय) दर्शन, व्रत, सामायिक, पडिमा (य) और (पोसह) पौषध (य) और (पडिमा) पांचवीं में पांच बातों का परित्याग वह करे (बंभ) ब्रह्मचारी (आरंभ) आरंभ त्यागे (पेस) दूसरों से आरम्भ करवाने का त्याग करवाना, (उदिट्ठवज्जए) अपने लिए बनाये हुए भोजन का परित्याग करना (य) और नौवीं पडिमा में (समणभूए) साधु के समान वृत्ति को पालना।

भावार्थः--हे गौतम ! जो गृहस्थ, गृहस्थ धर्म की ऊंची पायरी पर चढ़ना चाहे, तो उसकी विधि इस प्रकार है:— पहले अपनी श्रद्धा की ओर दृष्टिपात करके चारों ओर से वह देख ले, कि मेरी श्रद्धा में कोई घोटाला तो नहीं है। इस तरह लगातार एक महीने तक श्रद्धा के विषय में ध्यान पूर्वक अभ्यास वह करता रहे। फिर उसके बाद दो मास तक पहले लिये हुए व्रतों को निर्मल रूप से पालने का अभ्यास वह करे। तीसरी पडिमा में तीन मास तक यह अभ्यास करे कि किसी भी जीव पर राग द्वेष के भावों को वह न आने दे। अर्थात् इस प्रकार अपना हृदय सामायिक मय बनाले। चौथी पडिमा में चार महीने तक महीने में छः छः के हिसाब से पौषध करे। पांचवीं पडिमा में पांच महीने तक इन पांच बातों का अभ्यास करे। (१) पौषध में ध्यान करे, (२) श्रृंगार के निमित्त स्नान न करे, (३) रात्रि भोजन न करे (४) पौषध के सिवाय और दिनों मे दिनका ब्रह्मचर्य पाले, (५) रात्रि में ब्रह्मचर्य की मर्यादा करता रहे। छठी पडिमा में छः महीने तक सब प्रकार से ब्रह्मचर्य के पालन करने का अभ्यास वह करे। सातवीं पडिमा में सात महीने तक सचित भोजन न खाने का अभ्यास करे। आठवीं पडिमा में आठ महीने तक स्वतः कोई आरंभ न करे। नौवीं पडिमा में नौ महीने तक दूसरों से भी, आरम्भ न करवावे। दशवीं पडिमा में दश महीने तक अपने लिए किया हुआ भोजन न खावे। पूछने पर यथार्थ भाषण करे। ग्यारहवीं पडिमा में ग्यारह महीने तक साधु के समान क्रियाओं का पालन वह करता रहे। शक्ति हो तो बालों का लोच भी करे, नहीं शक्ति हो तो हजामत करवाले, खुली दण्डी का रजोहरण बगल में रक्खे।

मुंह पर मुंह-पति को बंधी हुई रक्खे। और ४२ दोषों को टाल कर अपने ज्ञाति वालों के यहां से भोजन लावे, इस प्रकार उत्तरोत्तर गुण बढ़ाते हुए प्रथम पडिमा में एकान्तर तप करे और दूसरी पडिमा में दो महीने तक बेले बेले पारणा करे। इसी तरह ग्यारहवीं पडिमा में ग्यारह महीने तक ग्यारह ग्यारह उपवास करता रहे। अर्थात् एक दिन भोजन करे फिर ग्यारह उपवास करे। फिर एक दिन भोजन करे। यों लगातार ग्यारह महीने तक ग्यारह का पारणा करे।

इस प्रकार गृहस्थ-धर्म पालते पालते अपने जीवन का अंतिम समय यदि आ जाय तो **अपच्छिमा मारणंतिआ संलेहणा झूसणाराहणा**-सब सांसारिक व्यवहारों का सब प्रकार से आजन्म के लिए परित्याग करके संथारा (समाधि) [Act of meditating that a particular person may die in an undistracted condition of mind] धारण करले, और अपने त्याग धर्म में किसी भी प्रकार की दोषापत्ति भूल से यदि हो गयी हो, तो आलोचक के पास उन बातों को प्रकाशित करदे। जो वे प्रायश्चित उसके लिए दें उसे स्वीकार कर अपनी आत्मा को निर्मल बनावे फिर प्राणी मात्र पर यों मैत्री भाव रक्खे।

खामेमि सव्वे जीवा; सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्व भूएसु; वेरं मज्झं ण केणई ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः-(सव्वे) सब (जीवा) जीवों को (खामेमि)

क्षमाता हूं।(मे) मेरा अपराध (सव्वे) सब (जीवा) जीव (खमंतु) क्षमा करो (सव्व भूएसु) प्राणी मात्र में (मे) मेरी (मित्ती) मैत्री भावना है (केणइ) किसी भी प्रकार से उनके साथ (मज्झं) मेरा (वेरं) वैर (न) नहीं है।

भावार्थ.-हे गौतम! उत्तम पुरुष जो होता है वह सदैव वसुधैव कुटुम्बकम् जैसी भावना रखता हुआ वाचा के द्वारा भी यों बोलेगा कि सब ही जीव क्या छोटे और बड़े उन से क्षमा याचता हूं। अतः वे मेरे अपराध को क्षमें। चाहे जिस जाति व कुल का हो उन सबों में मेरी मैत्री भावना है। भले ही वे मेरे अपराधी क्यों न हों, तदपि उन जीवों के साथ मेरा किसी भी प्रकार वैर विरोध नहीं है। बस, उस के लिए फिर मुक्ति कुछ भी दूर नहीं है।

आगारि सामाइअंगाइं; सड्ढी काएण फासए।
पोसहं दुहओ पक्खं; एगराइं न हावए॥ ६॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (सड्ढी) श्रद्धावान् (आगारि) गृहस्थी (सामाइअंगाइं) सामायिक के अंगों को (काएणं) काया के द्वारा (फासए) स्पर्श करे,, और (दुहओ) दोनों (पक्खं) पक्ष को (पोसहं) पौषध करने में (एगराइं) एक रात्रि की भी (न) नहीं (हावए) न्यूनता करे।

भावार्थः-हे आर्य! जो गृहस्थ है, और अपना गृहस्थ धर्म पालन करता है, वह श्रद्धावान् गृहस्थ सामायिक भाव

के अंगों की अर्थात् समता शान्ति आदि गुणों की मन, वचन, काया के द्वारा अभ्यास के साथ अभिवृद्धि करता रहे। और कृष्ण शुक्ल दोनों पक्षों में कम से कम छः पौषध करने में तो न्यूनता एक रात्रि की भी कभी न करे।

एवं सिक्खसमावरणे; गिहिवासे वि सुव्वए।
मुच्चई छविपव्वाओ; गच्छे जक्खसलोगयं ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति !(एवं)इस प्रकार (सिक्खा-समावरणे) शिक्षा करके युक्त गृहस्थ (गिहिवासे वि) गृह-वास में भी (सुव्वए) अच्छे व्रत वाला होता है। और वह अन्तिम समय में (छविपव्वाओ) चमड़ी और हड्डी वाले शरीर को (मुच्चई) छोड़ता है। और (जक्खसलोगयं) यक्ष देवता के सदृश स्वर्गलोक को (गच्छे) जाता है।

भावार्थः-हे गौतम ! इस प्रकार जो गृहस्थ अपने सदाचार रूप गृहस्थ धर्म का पालन करता है, वह गृहस्था-श्रम में भी अच्छे व्रतवाला संयमी होता है। इस प्रकार गृहस्थ-धर्म के पालते हुए यदि उसका अन्तिम समय भी आजाय तो भी हड्डी, चमड़ी और मांस निर्मित इस औदारिक (External physical body having flesh, blood and bone) शरीर को छोड़ कर यक्ष देवताओं के सदृश देवलोक को प्राप्त होता है।

दीहाउया इड्ढिमंता, समिद्धा कामरूविणो।
अहुणोववन्नसंकासा, भुज्जोअच्चिमालिप्पभा ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! जो गृहस्थ-धर्म पालन कर स्वर्ग में जाते हैं तो वहाँ वे (दीहाउया) दीर्घायु (इड्ढि-

मंता) ऋद्धिवान् (समिद्धा) समृद्धिशाली (कामरूविणो) इच्छानुसार रूप बनाने वाले (अहुणोववन्नसंकासा) मानो तत्काल ही जन्म लिया हो जैसे (भुज्जोअच्चिमालिप्पभा) और अनेकों सूर्यों की प्रभा के समान देदीप्यमान् होते हैं

भावार्थः--हे गौतम ! जो गृहस्थ गृहस्थ-धर्म पालते हुए नीति के साथ अपना जीवन बिताते हुए स्वर्ग को प्राप्त होते हैं, तो वे वहाँ दीर्घायु, ऋद्धिवान्, समृद्धिशाली, इच्छा, नुकूल रूप बनाने की शक्तियुत, तत्काल के जन्मे हुए जैसे, और अनेकों सूर्यों की प्रभा के समान देदीप्यमान् होते हैं।

ताणि ठाणाणि गच्छंति, सिक्खिता संजमं तवं ।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, जे संतिपरिनिव्वुडा ॥९॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (संतिपरिनिव्वुडा) शान्ति के द्वारा चहूँ ओर से संतापरहित (जे) जो (भिक्खाए) भिक्षु (वा) अथवा (गिहत्थे) गृहस्थ हो (संजमं) संयम (तवं) तपको (सिक्खित्ता) अभ्यास करके (ताणि) उन दिव्य (ठाणाणि) स्थानों को (गच्छंति) जाते हैं।

भावार्थः--हे गौतम ! क्षमा के द्वारा सकल संतापों से रहित होने पर साधु हो या गृहस्थ चाहे जो हो, जाति पाँति का यहाँ कोई गौरव नहीं है। संयमी जीवन वाला और तपस्वी हो वही दिव्य स्वर्ग में जाता है।

बहिया उड्ढमादाय, नावकंखे कयाइ वि ।
पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे ॥ १० ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (बहिया) संसार से बाहर (उड्ढ) ऊर्ध्व, ऐसे मोक्ष की अभिलाषा (आदाय)

ग्रहण कर (कयाइ वि) कभी भी (न) नहीं (अकंक्खे) विषयादि सेवन की इच्छा करे, और (पुव्वकम्मक्खयट्ठाए) पूर्व संचित कर्मों को नष्ट करने के लिए (इमं) इस (देहं) मानव शरीर को (समुद्धरे) निर्दोष वृत्ति से धारण करके रक्खे।

भावार्थः–हे गौतम ! संसार से परे जो मोक्ष है, उसको लक्ष्य में रख करके कभी भी कोई विषयादि सेवन की इच्छा न करे। और पूर्व के अनेक भवों में किये हुए कर्मों को नष्ट करने के लिए इस शरीर का, निर्दोष आहारादि से पालन पोषण करता हुआ अपने मानव जन्म को सफल बनावे।

दुल्लहा उ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छंति सोग्गइं॥ ११॥

भावार्थः--हे इन्द्रभूति ! (मुहादाई) स्वार्थ रहित भावना से देने वाला व्यक्ति (दुल्लहा) दुर्लभ(उ) और (मुहाजीवी) स्वार्थ रहित भावना से दिये हुए भोजन के द्वारा जीवन निर्वाह करने वाले (वि) भी (दुल्लहा) दुर्लभ है, (मुहादाई) ऐसा देने वाला और (मुहाजीवी) ऐसा लेने वाला (दो वि) दोनों ही (सोग्गइं) स्वर्ग को (गच्छंति) जाते है।

अन्वयार्थः--हे गौतम ! नाना प्रकार के ऐहिक सुख प्राप्त होने की स्वार्थ रहित भावना से जो दान देता है, ऐसा व्यक्ति मिलना दुर्लभ ही है। और देने वाले का किसी भी प्रकार संबंध व कार्य न करके उससे निस्वार्थ ही भोजन

ग्रहण कर अपना जीवन निर्वाह करते हों, ऐसे महान् पुरुष भी कम हैं। अत एव बिना स्वार्थ से देने वाला मुहाजीवी [Maintaining oneself without doing any service] और निस्पृह भाव से लेने वाला-मुहादाई [Giving without getting any thing in return] दोनों ही स्वर्ग को जाते हैं।

संति एगेहिं भिक्खूहिं; गारत्था संजमुत्तरा।
गारत्थेहिं य सव्वेहिं; साहवो संजमुत्तरा ॥१२॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (एगेहिं) कितनेक (भिक्खूहिं) शिथिल साधुओं से (गारत्था) गृहस्थ (संजमुत्तरा) संयमी जीवन बिताने में अच्छे (संति) होते हैं। (य) और (सव्वेहिं) देश विरति वाले सब (गारत्थेहिं) गृहस्थों से (संजमुत्तरा) निर्दोष संयम पालने वाले श्रेष्ठ हैं।

भावार्थः-हे आर्य ! कितनेक शिथिलाचारी साधुओं से गृहस्थ धर्म पालने वाले गृहस्थ भी अच्छे होते हैं। जो अपने नियमों को निर्दोष रूप से पालन करते रहते हैं। और निर्दोष संयम पालने वाले जो साधु हैं, वे देश विरतिवाले सब गृहस्थों से भी बढ़कर है।

चीराजिणं नगिणिणं, जडी संघाडि मुंडिणं।
एयाणि वि न तायंति; दुस्सीलं परियागयं ॥१३॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (चीराजिणं) केवल वल्कल और चर्म के वस्त्र पहनना (नगिणिणं) नग्न अवस्थापन्न (जडी) जटाधारी होना (संघाडि) वस्त्र के टुकड़े साँध साँध कर पहनना (मुंडिणं) केसों का मुंडन

या लोच । करवाना (एयाणि) इतने प्रकार (परियागयं) दीक्षा प्राप्त हुआ (दुस्सीलं) दुष्ट आचार वाला (न) नहीं (ताइंति) रक्षित होता है ।

भावार्थः-हे गौतम ! संयमी जीवन बिताये बिना केवल दरख्तों की छाल के वस्त्र पहनने से या किसी किस्म के चर्म के वस्त्र पहनने से, अथवा नग्न रहने से, अथवा जटाधारण करने से, अथवा फटे टूटे कपड़ों के टुकड़ों को सीकर पहनने से, और केसों का मुण्डन व लोचन करने से कभी मुक्ति नहीं होती है । इस प्रकार भले ही वह साधु कहलाता हो, पर वह दुराचारी न तो अपना स्वतः का रक्षण कर पाता है, और न औरों ही का । ऐसे शिथिलाचारियों से यथायोग्य गृहस्थ-धर्म के पालन करने वाले गृहस्थी ही ठीक है ।

अत्थंगयंमि आइच्चे; पुरत्था य अणुग्गए ।
आहारमाइयं सव्वं; मणसा वि न पत्थए ॥१४॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (आइच्चे) सूर्य (अत्थंगयंमि) अस्त होने पर (य) और (पुरत्था) पूर्व दिशा म (अणुग्गए) उदय नहीं हो वहां तक (आहारमाइयं) आहार आदि (सव्वं) सब को (मणसा) मन से (वि) भी कभी (न) नहीं (पत्थए) चाहता हो ।

भावार्थः-हे गौतम ! सूर्य अस्त होने के पश्चात् जब तक फिर पूर्व दिशा में सूर्य उदय न हो जावे उस के बीच के समय में गृहस्थ सब तरह के पेय अपेय पदार्थों को खाने पीने की मन से भी कभी इच्छा न करे ।

जायरूवं जहामट्ठं; निद्धंतमलपावगं ।
रागद्दोसभयातीतं, तं वयं बूम माहणं ॥१५॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जहामट्ठं) जिसे कसोटी पर कसा हुआ है और (निद्धंतमलपावगं) अग्नि से नष्ट किया है मलको जिस के ऐसा (जायरूवं) सुवर्ण गुण युक्त होता है । वैसे ही जो (रागद्दोसभयातीतं) राग,द्वेष, और भय से रहित हो (तं) उसको (वयं) हम (माहणं) ब्राह्मण (बूम) कहते हैं ।

भावार्थः-हे गौतम ! जिस प्रकार कसोटी पर कसा हुआ एवं अग्नि के ताप से दूर हो गया है मैल जिसका ऐसा सुवर्ण ही वास्तव में सुवर्ण होता है । इसी तरह निर्मोह और शान्ति रूप कसोटी पर कसा हुआ तथा ज्ञान रूप अग्नि से जिसका राग द्वेष रूप मैल दूर हो गया हो उसी को हम ब्राह्मण कहते हैं ।

तवस्सियं किसं दंतं; अवचियमंससोणियं ।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं; तं वयं बूम माहणं ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! जो (तवस्सियं) करने वाला हो, जिससे वह (किसं) दुर्बल हो रहा हो (दंतं) इन्द्रियों को दमन करने वाला हो, जिससे (अवचियमंस-सोणिअं) सूख गया है माँस और खून जिसका, (सुव्वयं) व्रत नियम सुन्दर पालता हो (पत्तनिव्वाणं) प्राप्त हुआ है शान्तता को (तं) उसको (वयं) हम (माहणं) ब्राह्मण (बूम) कहते हैं ।

भावार्थः-हे गौतम ! तप करने से जिसका शरीर दुर्बल हो गया हो, इन्द्रियों का दमन करने से लोहू, माँस जिसका सूख गया हो, व्रत नियमों का सुन्दर रूप से पालन करने के कारण जिसका स्वभाव शान्त हो गया हो, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

जहा पउमं जले जायं; नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहिं; तं वयं बूम माहणं ॥ १७ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (पउमं) कमल (जले) जल में (जायं) उत्पन्न होता है तोभी (वारिणा) जल से (नोवलिप्पइ) वह लिप्त नहीं होता है (एवं) ऐसे ही (कामेहिं) काम भोगों से (अलित्तं) अलिप्त है (तं) उसको (वयं) हम (माहणं) ब्राह्मण कहते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! जैसे कमल जल मे उत्पन्न होता है, पर जलसे सदा अलिप्त रहता है, इसी तरह कामभोगों से उत्पन्न होने पर भी विषय-वासना सेवन से जो सदा दूर रहता है, वह किसी भी जाति व कौम का क्यों न हो, हम उसी को ब्राह्मण कहते हैं।

न वि मुंडिएण समणो; न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेणं; कुसचीरेण न तावसो ॥१८॥

अन्वयार्थः- हे इन्द्रभूति ! (मुंडिएण) मुंडन व लोचन करने से (समणो) श्रमण (न) नहीं होता है। और (ओंकारेण) ओंकार शब्द मात्र जप लेने से (बंभणो) कोई ब्राह्मण (वि) भी (न) नहीं हो सकता है। इसी

तरह (रण्णवासेणं) अटवी में रहने से (मुणी) मुनि (न) नहीं होता है। (कुसचीरेण) दर्भ के वस्त्र पहनने से (तावसो) तपस्वी (न) नहीं होता है।

भावार्थः--हे गौतम! केवल सिर मुंडाने से या लोचन मात्र करने से ही कोई साधु नहीं बन जाता है। और न ओंकार शब्द मात्र के रटने से ही कोई ब्राह्मण हो सकता है। इसी तरह केवल सघन अटवी में निवास करलेने से ही कोई मुनि नहीं हो सकता है। और न केवल घास विशेष अर्थात् दर्भ का कपड़ा पहन लेने से तपस्वी बन सकता है।

समयाए समणो होइ; बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण य मुणी होइ; तवेणं होइ तावसो ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (समयाए) शत्रु और मित्र पर समभाव रखने से (समणो) श्रमण-साधु (होइ) होता है। (बंभचेरेण) ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने से (बंभणो) ब्राह्मण होता है (य) और इसी तरह (नाणेणं) ज्ञान सम्पादन करने से (मुणी) मुनि (होइ) होता है, एवं (तवेणं) तप करने से (तावसो) तपस्वी (होइ) होता है।

भावार्थः-हे गौतम! सर्व प्राणी मात्र, फिर चाहे वे शत्रु जैसा वर्त्ताव करते हों या मित्र जैसा, ब्राह्मण, श्रावक, चाहे जो व्यक्ति हों, उन सभी को समदृष्टि से जो देखता हो, वही साधु है। ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला किसी भी कौम का हो, वह ब्राह्मण ही है, इसी तरह सम्यक् ज्ञान सम्पादन कर के उसके अनुसार प्रवृत्ति करने वाला ही मुनि है। ऐहिक

सुखों की वाँछा रहित बिना किसी को कष्ट दिये जो तप करता है, वही तपस्वी है।

कम्मुणा बंभणो होइ; कम्मुणा होइ खत्तिओ।
कम्मुणा वइसो होइ; सुद्दो होइ कम्मुणा॥ २०॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति! (कम्मुणा) क्षमादि अनुष्ठान करने से (बंभणो) ब्राह्मण (होइ) होता है, और (कम्मुणा) पर पीड़ाहरन व रक्षादि कार्य करने से (खत्तिओ) क्षत्री (होइ) होता है। इसी तरह (कम्मुणा) नीति पूर्वक व्यवहार कर्म करने से (वइसो) वैश्य (होइ) होता है। और (कम्मुणा) दूसरों को कष्ट पहुँचाने रूप कार्य जो करे वह (सुद्दो) शूद्र (होइ) होता है।

भावार्थः–हे गौतम! चाहे जिस जाति व कुल का मनुष्य क्यों न हो, जो क्षमा, सत्य, शील तप आदि सदनुष्ठान रूप कर्मों का कर्त्ता होता है, वही ब्राह्मण है। केवल छापा तिलक कर लेने से ब्राह्मण नहीं हो सकता है। और जो भय, दुःख, आदि से मनुष्यों को मुक्त करने का कर्म करता है, वही क्षत्रिय अर्थात् राजपुत्र है। अन्याय पूर्वक राज करने से तथा शिकार खेलने से कोई भी व्यक्ति आज तक क्षत्रिय नहीं बना। इसी तरह नीति पूर्वक प्रत्येक के साथ में जो व्यापार करने का कर्म करता है वही वैश्य है। नापने, तौलने, लेन, देन, आदि सभी में अनीति पूर्वक व्यवहार कर लेने मात्र से कोई वैश्य नहीं हो सकता है। और जो दूसरों को संताप पहुँचाने वाले ही कर्मों को करता रहता है वही शूद्र है।

॥इति निर्ग्रन्थ-प्रवचनस्य सप्तमोऽध्यायः॥

❀ अध्याय आठवां ❀

॥ श्री भगवानुवाच ॥

आलओ थीजणाइण्णो; थीकहा य मणोरमा।
संथवो चेव नारीणं, तेसिं इंदियदरिसणं ॥ १ ॥

कुइअं रुइअं गीअं, हसिअं भुत्तासिआणि अ।
पणिअं भत्तपाणं च, अइमायं पाण भोअणं ॥२॥

गत्तभूसणमिट्ठं च; कामभोगा य दुज्जया।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (थीजणाइण्णो) स्त्री जन सहित (आलओ) मकान में रहना (य) और (मणोरमा) मन-रमणीय (थीकहा) स्त्री-कथा कहना (चेव) और (नारीणं) स्त्रियों के (संथवो) संस्तव अर्थात् एक आसन पर बैठना (चेअ) और (तेसिं) स्त्रियों का (इंदियदरिसणं) अङ्गोपाङ्ग देखना, ये ब्रह्मचारियों के लिए निषिद्ध है। (अ) और (कुइअं) कूँजित (रुइअं) रुदित (गीअं) गीत (हसिअं) हास्य वगैरह (भुत्तासिआणि) स्त्रियों के साथ पूर्व में जो काम चेष्टा की है, उसका स्मरण (च) और नित्य (पणिअं) स्निग्ध (भत्तपाणं) आहार पानी एवं (अइमायं) परिमाण से अधिक (पाणभोअणं) आहार पानी का खाना पीना (च) और (इट्ठं)

प्रियकारी (गत्तभूसणं) शरीर शुश्रूषा विभूषा करना ये सब ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध है। क्योंकि (दुज्जया) जीतने में कठिन हैं ऐसे ये (कामभोगा) कामभोग (अत्त-गवेसिस्स) आत्मगवेषी ब्रह्मचारी (नरस्स) मनुष्य के (तालउडं) तालपुट (विसं) ज़हर के (जहा) समान हैं।

भावार्थः--हे गौतम ! स्त्री व नपुंसक (हींजड़े) जहां रहते हों वहां ब्रह्मचारी को नहीं रहना चाहिए। स्त्रियों की कथा का कहना, स्त्रियों के आसन पर बैठना, उन के अंगो·पाङ्गों को देखना, और जो पूर्व में स्त्रियों के साथ काम चेष्टा की है उसका स्मरण करना, नित्यप्रति स्निग्ध भोजन करना, परिमाण से अधिक भोजन करना, एवं शरीर की शुश्रूषा विभूषा करना ये सब ब्रह्मचारियों के लिए निषिद्ध हैं। क्योंकि ये दुर्जयी काम भोग ब्रह्मचारी के लिए तालपुट ज़हर के समान होते हैं।

जहा कुक्कुडपोअस्स, निच्चं कुललओ भयं।
एवं खु बंभयारिस्स; इत्थीविग्गहओ भयं ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (कुक्कुड·पोअस्स) मुर्गी के बच्चे को (निच्चं) हमेशा (कुललओ) बिल्ली से (भयं) भय रहता है। (एवं) इसी प्रकार (खु) निश्चय करके (बंभयारिस्स) ब्रह्मचारी को (इत्थीविग्गहओ) स्त्री·शरीर से (भयं) भय बना रहता है।

भावार्थः--हे गौतम ! ब्रह्मचारियों के लिए स्त्रियों की विषय जनित वार्तालाप तथा स्त्रियों का संसर्ग करना आदि

जो निषेध किया है, वह इसलिए है कि जैसे मुर्गी के बच्चे को सदैव बिल्ली से प्राणवध का भय रहता है, अतः अपनी प्राण रक्षा के लिए वह उससे बचता रहता है। उसी तरह ब्रह्मचारियों को स्त्रियों के संसर्ग से अपने ब्रह्मचर्य के नष्ट होने का भय सदा रहता है। अतः उन्हें स्त्रियों से सदा सर्वदा दूर रहना चाहिए।

जहा बिरालावसहस्स मूले;
न मूसगाणं वसही पसत्था।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे;
न बम्भयारिस्स खमो निवासो ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (जहा) जैसे (बिरालावसहस्स) बिलावों के रहने के स्थानों के (मूले) समीप में (मूसगाणं) चूहों का (वसही) रहना (पसत्था) अच्छा (न) नहीं है, (एमेव) इसी तरह (इत्थीनिलयस्स) स्त्रियों के निवास स्थान के (मज्झे) मध्य में (बम्भयारिस्स) ब्रह्मचारियों का (निवासो) रहना (खमो) योग्य (न) नहीं है।

भावार्थः-हे आर्य! जिस प्रकार बिलावों के निवास स्थानों के समीप चूहों का रहना बिलकुल योग्य नहीं अर्थात् खतरनाक है। इसी तरह स्त्रियों के रहने के स्थान के समीप ब्रह्मचारियों का रहना भी उनके लिए योग्य नहीं है।

हत्थपायपडिछिन्नं; कन्ननासविगप्पिअं ।
अवि वाससयं नारिं; बंभयारी विवज्जए ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (हत्थपायपडिछिन्नं) हाथ पाँव छेदे हुए हों, (कन्ननासविगप्पियं) कान, नासिका, विकृत आकार के हों, (वाससयं) सौ वर्ष वाली हो (अवि) ऐसी भी (नारिं) स्त्री का संसर्ग करना (बंभयारी) ब्रह्मचारी (विवज्जए) छोड़दे।

भावार्थः-हे गौतम! जिसके हाथ पैर कटे हुए हों, कान नाक भी खराब आकार वाले हों; और अवस्था में भी सौ वर्ष वाली हो, तो भी ऐसी स्त्री के साथभी संसर्ग परिचय करना, ब्रह्मचारियों के लिए परित्याज्य है।

अंगपच्चंगसंठाणं; चारुल्लविअपेहिअं ।
इत्थीणं तं न निज्झाए; कामरागविवड्ढणं ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! ब्रह्मचारी (कामरागविवड्ढणं) काम राग आदि को बढ़ाने वाले ऐसे (इत्थीणं) स्त्रियों के (तं) तत्संबंधी (अंगपच्चंगसंठाणं) सिर नयन आदि आकार प्रकार और (चारुल्लविअपेहिअं) सुन्दर बोलने का ढंग एवं नयनों के कटाक्ष बाण की ओर (न) न (निज्झाए) देखे।

भावार्थः-हे गौतम! ब्रह्मचारियों को कामराग बढ़ाने वाले जो स्त्रियों के हाथ पाँव, आँख, नाक, मुंह आदि के आकार प्रकार हैं उनकी ओर, एवं स्त्रियों के सुन्दर बोलने की ढब तथा उनके नयनों के तीक्ष्ण बाणों की ओर कदापि न देखना चाहिए।

णो रक्खसीसु गिज्झिज्जा;
गंडवच्छासुऽणेगचित्तासु ।
जाओ पुरिसं पलोभित्ता;
खेलंति जहा वा दासेहिं ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! ब्रह्मचारी को (गंडवच्छासु) फोड़े के समान वक्षस्थल वाली (ऽणेगचित्तासु) चंचल चित्त वाली (रक्खसीसु) राक्षसी स्त्रियों में (णो) नहीं (गिज्झिज्जा) गृद्धि होना चाहिए, क्योंकि (जाओ) जो स्त्रियां (पुरिसं) पुरुष को (पलोभित्ता) प्रलोभित करके (जहा) जैसे (दासेहिं) दास की (वा) तरह (खेलंति) क्रीड़ा कराती हैं।

भावार्थः--हे गौतम ! ब्रह्मचारियों को फोड़े के समान स्तनवाली, एवं चंचल चित्तवाली, जो बातें तो किसी दूसरे से करे, और देखे दूसरे ही की ओर ऐसी अनेक चित्त वाली, राक्षसियों के समान स्त्रियों में कभी आसक्त नहीं होना चाहिए। क्योंकि वे स्त्रियां मनुष्यों को विषय वासना का प्रलोभन दिखा कर अपनी अनेक आज्ञाओं का पालन कराने में उन्हें दासों की भांति दत्तचित्त रखती हैं।

भोगामिसदोसविसन्ने,
हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ।
बाले य मंदिए मूढे,
बज्झइ मच्छिया व खेलम्मि ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (भोगामिसदोसविसन्ने) भोग रूप माँस जो आत्मा को दूषित करने वाला दोष रूप

है, उस में आसक्त होने वाले तथा (हियनिस्सेयसबुद्धि-वोच्चत्थे) हित कारक जो मोक्ष है उसको प्राप्त करने की जो बुद्धि है उस से विपरीत वर्ताव करने वाले (य) और (मंदिए) धर्म-क्रिया में आलसी (मूढे) मोह में लिप्त (वाले) ऐसे अज्ञानी कर्मों में बंध जाते हैं। और (खेलम्मि) श्लेष-क़फ़ में (मच्छिआ) मक्खी की (व) तरह (बज्झई) लिपट जाती है।

भावार्थ--हे गौतम! विषय वासना रूप जो मांस है, यही आत्मा को दूषित करने वाला दोष रूप है। इस में आसक्त होने वाले, तथा हितकारी जो मोक्ष है उसके साधन की बुद्धि से विमुख, और धर्म करने में आलसी तथा मोह में लिप्त हो जाने वाले अज्ञानी जन अपने गाढ़ कर्मों में जैसे मक्खी श्लेष (क़फ़) में लिपट जाती है वैसे ही फंस जाते हैं।

सल्लं कामा विसं कामा; कामा आसीविसोवमा।
कामे पत्थे माणा, अकामा जंति दुग्गइं ॥ १० ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (कामा) काम भोग (सल्लं) कांटे के समान है (कामा) कामभोग (विसं) विष के समान है (कामा) कामभोग (आसीविसोवमा) दृष्टि-विष सर्प के समान है;(कामे)कामभोगों की (पत्थेमाणा) इच्छा करने पर (अकामा) बिनाही विषय वासना सेवन किये यह जीव (दुग्गइं) दुर्गति को (जंति) प्राप्त होता है।

भावार्थः--हे आर्य ! यह काम भोग चूभने वाले तीक्ष्ण कांटे के समान है; विषय वासना का सेवन करना तो

बहुत ही दूर रहा, पर उसकी इच्छा मात्र करने ही में मनुष्यों की दुर्गति होती है।

खणमत्तसुक्खा बहुकालदुक्खा,
पगामदुक्खा अनिगामसुक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (कामभोगा) ये काम भोग (खणमेत्तसुक्खा) क्षण मात्र के केवल भोगने के समय ही, सुख के देने वाले हैं, पर ये भविष्य में (बहु-कालदुक्खा) बहुत काल तक के लिए दुख रूप हो जाते हैं। अतः ये विषय भोग (पगामदुक्खा) अत्यन्त दुख देने वाले और (अनिगामसुक्खा) अत्यल्प सुख के दाता हैं। (संसारमोक्खस्स) संसार से मुक्त होने वालों को ये (विप-क्खभूया) विपक्षभूत अर्थात् शत्रु के समान हैं। और (अणात्थाण) अनर्थों की (खाणी उ) खदान के समान हैं।

भावार्थः--हे गौतम ! फिर ये काम भोग केवल सेवन करते समय ही क्षणिक सुखों के देने वाले हैं। और भविष्य में वे बहुत अर्से तक दुखदायी होते हैं। इसलिए हे गौतम ! ये भोग अत्यन्त दुख के कारण हैं ; सुख तो इन के द्वारा प्राप्त होता है वह तो अत्यल्प ही होता है। फिर ये भोग संसार से मुक्त होने वाले के लिए पूरे पूरे शत्रु के समान होते हैं। और सम्पूर्ण अनर्थों को पैदा करने वाले हैं।

जहा किंपागफलाणं ; परिणामो न सुन्दरो।
एवं भुत्ताणं भोगाणं; परिणामो न सुन्दरो ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः -हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (किंपागफलाणं) किंपाक नामक फलों के खाने का (परिणामो) परिणाम (सुन्दरो) अच्छा (न) नहीं है, (एवं) इसी तरह (भुत्ताणं) भोगे हुए (भोगाणं) भोगों का (परिणामो) परिणाम (सुन्दरो) अच्छा (न) नहीं होता है।

भावार्थः-हे आर्य ! किंपाक नाम के फल जो भी होते हैं खाने में स्वादिष्ट, सूंघने में सुगंधित, और आकार प्रकार से भी मनोहर होते हैं तथापि खाने के बाद वे फल हलाहल ज़हर का काम कर बैठते हैं। इसी तरह ये भोग भी भोगते समय तो क्षणिक सुख को दे देते हैं। परन्तु उस के पश्चात् ये चौरासी की चक्रफेरी में दुखों का समुद्र रूप हो सामने आ खड़े हो जाते हैं। उस समय इस आत्मा को बड़ा ही पश्चाताप करना पड़ता है।

दुपरिच्चया इमे कामा;
नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।
अह संति सुव्वया साहू;
जे तरंति अतरं वणियावा ॥१३॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (इमे) ये (कामा) कामभोग (दुपरिच्चया) मनुष्यों द्वारा बड़ी ही कठिनता से छूटने वाले होते हैं, ऐसे भोग (अधीरपुरिसेहिं) कायर पुरुषों से तो (नो) नहीं (सुजहा) सुगमता से छोड़े जा सकते हैं। (अह) परन्तु (सुव्वया) सुव्रत वाले (साहू) अच्छे पुरुष जो (संति) होते हैं (जे) वे (अतरं) तिरने में कठिन ऐसे भव समुद्र को भी (वणियो) वणिक की (वा) तरह (तरंति) तिर जाते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! इन काम भोगों को छोड़ने में जब बुद्धिमान् मनुष्य भी बड़ी कठिनाइयां उठाते हैं, तब फिर कायर पुरुष तो इन्हें सुलभता से छोड़ ही कैसे सकते हैं। अतः जो शूर वीर और धीर पुरुष होते हैं, वे ही इस काम भोग रूपी समुद्र के परले पार पहुँच सकते हैं; उसी प्रकार संयम आदि व्रत नियमों की धारणा करने वाले पुरुष ही ब्रह्मचर्य रूप जहाज के द्वारा संसार रूपी समुद्र के परले पार पहुँच सकते हैं।

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥१४॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (भोगेसु) भोग भोगने में कर्मों का (उवलेवो) उपलेप (होइ) होता है। और (अभोगी) अभोगी को (नोवलिप्पई) कर्मों का लेप नहीं होता है। (भोगी) विषय सेवन करने वाला (संसारे) संसार में (भमइ) भ्रमण करता है। और (अभोगी) विषय सेवन नहीं करने वाला (विप्पमुच्चई) कर्मों से मुक्त होता है।

भावार्थः-हे गौतम ! विषय वासना सेवन करने से आत्मा कर्मों के बंधन से बँध जाती है। और उसको त्यागने से वह आलिप्त रहती है। अतः जो काम भोगों को सेवन करते हैं वे संसार-चक्र में गोता लगाते रहते हैं; और जो इन्हें त्याग देते हैं; वे कर्मों से मुक्त हो कर अटल सुखों के धाम पर जा पहुँचते हैं।

मोक्खाभिकंखिस्स वि माणवस्स,
संसारभीरूस्स ठियस्स धम्मे ।

नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए,
जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥१५॥

अन्वयार्थः- हे इन्द्रभूति ! (मोक्खाभिकंखिस्स) मोक्ष की अभिलाषा रखनेवाले (संसारभीरुस्स) संसार में जन्म मरण करने से डरने वाले और (धम्मे) धर्म में (ठियस्स) स्थिर हैं आत्मा जिनकी ऐसे (माणवस्स) मनुष्य को (वि) भी (जहा) जैसे (बालमणोहराओ) मूर्खों के मन को हरण करने वाली (इत्थिओ) स्त्रियों से दूर रहना कठिन है, तब (एयारिसं) ऐसे (लोए) लोक में (दुत्तरं) विषय रूप समुद्र को लांघजाने के समान दूसरा कोई कठिन (न) नहीं (अत्थि) है।

भावार्थः-हे गौतम ! जो मोक्ष की अभिलाषा रखते हैं, और जन्म मरणों से भयभीत होते हुए धर्म में अपनी आत्मा को स्थिर किये रहते हैं, ऐसे मनुष्यों को भी मूर्खों के मनरंजन करने वाली स्त्रियों के कटाक्षों को निष्फल करने के समान इस लोक में दूसरा कोई कठिन कार्य नहीं है।

एए य संगे समइक्कमित्ता,
सुहुत्तरा चेव भवंति सेसा।
जहा महासागरमुत्तरित्ता,
नई भवे अवि गंगासमाणा ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (एए य) इस (संगे) स्त्री-प्रसंग को (समइक्कमित्ता) छोड़ने पर (सेसा) अवशेष धनादि का छोड़ना (चेव) निश्चय करके (सहुत्तरा)

सुगमता से (भवंति) होता है (जहा) जैसे (महासागरं) मोटा समुद्र (उत्तरित्ता) तिर जाने पर (गंगासमाणा) गंगा के समान (नई) नदी (श्रावे) भी (भवे) सुख से पार की जा सकती है।

भावार्थः- हे इन्द्रभूति ! जिसने स्त्री-संभोग का परित्याग कर दिया है उसको अवशेष धनादि के त्यागने में कोई भी कठिनाई नहीं होती, अर्थात्-शीघ्र ही वह दूसरे प्रपंचों से भी अलग हो सकता है। जैसे-कि महासागर के परले पार जाने वाले के लिए गंगा नदी को लांघना कोई कठिन कार्य नहीं होता।

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइअं माणसिअं च किंचि;
तस्संतगं गच्छइ वीयरागो ॥ १७ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (सदेवगस्स) देवता सहित (सव्वस्स)सम्पूर्ण (लोगस्स) लोक के प्राणी मात्र को (कामाणुगिद्धिप्पभवं) काम भोग की अभिलाषा से उत्पन्न होने वाला (खु) ही, (दुक्खं) दुख लगा हुआ है (जं) जो (काइअं) कायिक (च) और (माणसिअं) मानसिक (किंचि) कोई भी दुख है (तस्स) उसके (अंतगं) अन्त को (वीयरागो) चला गया है राग द्वेष जिसका, वह (गच्छइ) जाता है।

भावार्थः-हे गौतम ! भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी आदि सभी तरह के देवताओं से लगाकर सम्पूर्ण लोक

के छोटे से प्राणी तक को काम भोगों की अभिलाषा से उत्पन्न होने वाला दुख सताता रहता है। उस कायिक और मानसिक दुख का अन्त करने वाला केवल वही मनुष्य है, जिसने काम भोगों से सदा के लिए अपना मुंह मोड़ लिया है।

देवदाणवगंधव्वा; जक्खरक्खसकिन्नरा ।
बंभयारिं नमंसंति; दुक्करं जे करंति ते ॥१८॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (दुक्करं) कठिनता से आचरण में आ सके ऐसे ब्रह्मचर्य को (जे) जो (करंति) पालन करते हैं (ते) उन (बम्भयारिं) ब्रह्मचारियों को (देवदाणवगंधव्वा) देव, दानव, और गंधर्व (जक्खरक्ख-सकिंनरा) यक्ष, राक्षस, और किन्नर सभी तरह के देव (नमंसंति) नमस्कार करते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! इस महान ब्रह्मचर्य व्रत का जो पालन करता है, उसको देव दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर आदि सभी देव नमस्कार करते हैं।

॥ इति निर्ग्रन्थ-प्रवचनस्य अष्टमोऽध्यायः॥

अध्याय नौवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

सव्वे जीवा वि इच्छंति; जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं; निग्गंथा वज्जयंति णं ॥ १ ॥

अन्वयार्थः- हे इन्द्रभूति ! (सव्वे) सभी (जीवा) जीव (जीविउं) जीने की (इच्छंति) इच्छा करते हैं (वि) और (मरिज्जिउं) मरने को कोई जीव (न) नहीं चाहता है। (तम्हा) इसलिए (निग्गंथा) निर्ग्रन्थ साधु (घोरं) रौद्र (पाणिवहं) प्राणवध को (वज्जयंति) छोड़ते हैं। (णं) वाक्यालंकार।

भावार्थः--हे गौतम ! सब छोटे बड़े जीव जीने की इच्छा करते हैं, पर कोई मरने की इच्छा नहीं करते हैं। क्योंकि जीवित रहना सब को प्रिय है। इसलिए निर्ग्रन्थ साधु महान् दुख के हेतु प्राणि वध को आजीवन के लिए छोड़ देते हैं।

मुसावाओ य लोगम्मि; सव्वसाहूहिं गरहिओ।
अविस्सासो य भूयाणं; तम्हा मोसं विवज्जए ॥२॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (लोगम्मि) इस लोक में (य) हिंसा के सिवाय और (मुसावाओ) मृषावाद को भी (सव्वसाहूहिं) सब अच्छे पुरुषोंने (गरहिओ) निन्द-

नीय कहा है। (य) और इस मृषावाद से (भूयाणं) प्राणियों को (अविस्मासो) अविश्वास होता है। (तम्हा) इसलिए (मोसं) झूँठ को (विवज्जए) छोड़ देना चाहिए।

भावार्थः-हे गौतम! इस लोक में हिंसा के सिवाय और भी जो मृषावाद (झूँठ) है; वह अच्छे पुरुषोंके द्वारा निन्दनीय बताया गया है। और यह झूँठ अविश्वास का पात्र भी है। इसलिए साधु पुरुष झूँठ बोलना आजीवन के लिए छोड़ देते हैं।

चित्तमंतमचित्तं वा; अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमेत्तं पि; उग्गहंसि अजाइया ॥३॥

अन्वयार्थ--हे इन्द्रभूति! (अप्पं) अल्प (जइवा) अथवा (बहुं) बहुत (चित्तमंत) सचेतन (वा) अथवा (अचित्तं) अचेतन (दंतसोहणमेत्तंपि) दंत-शोधन के समान जितने भी पदार्थ है. उन्हें भी (अजाइया) याचे बिना ग्रहण नहीं करते हैं। (उग्गहंसि) पढियारी वस्तु तक भी गृहस्थ के दिये बिना वे नहीं लेते हैं।

भावार्थः-हे गौतम! चेतन वस्तु जैसे शिष्य अचेतन वस्तु वस्त्र, पात्र वगैरह यहां तक कि दांत कुचलने की काड़ी वगैरह भी गृहस्थ के दिये बिना जो साधु होते हैं, वे कभी ग्रहण नहीं करते हैं, और अवग्रहिक पढियारी वस्तु (An article of use (for a monk) to be used for a time and then to be returned to its owner) अर्थात् कुछ समय तक रख कर पीछी सौंपदे, उन चीजों

को भी गृहस्थों के दिये बिना साधु कभी नहीं लेते है।

मूलमेयमहम्मस्स; महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुणसंसग्गं; निग्गंथा वज्जयंति णं ॥४॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (एयं) यह (मेहुणसंसग्गं) मैथुन विषयक संसर्ग (अहम्मस्स) अधर्म का (मूलं) मूल है । और (महादोससमुस्सयं) महान् दुषित विचारों को अच्छी तरह से बढ़ाने वाला है । (तम्हा) इसलिए (निग्गंथा) निर्ग्रन्थ साधु मैथुन संसर्ग को (वज्जयंति) छोड़ देते है । (णं) वाक्यालंकार में ।

भावार्थः-हे गौतम ! यह अब्रह्मचर्य अधर्म उत्पन्न कराने में परम कारण है । और हिंसा झूठ चोरी कपट आदि महान् दोषों को खूब बढ़ाने वाला है। इसलिए जिन-धर्म पालने वाले महापुरुष सब प्रकार से मैथुन संसर्ग का परित्याग कर देते है।

लोभस्सेसमणुफासे; मन्ने अन्नयरामवि ।
जे सिया सन्निहीकामे; गिही पव्वइए न से ॥५॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (लोभस्स) लोभ की (एस) यह (अणुफासे) महत्ता है, कि (अन्नयरामवि) गुड़, घी, शक्कर आदि में से कोई एक पदार्थ को भी (जे) जो साधु हो कर (सिया) कदाचित् (सन्निहीकामे) अपने पास रात भर रखने की इच्छा कर ले तो (से) वह (न) न तो (गिही) गृहस्थी है और न (पव्वइए) प्रव्रजित दीक्षित ही है, ऐसा तीर्थंकर (मन्ने) मानते हैं ।

भावार्थः-हे गौतम ! लोभ, चारित्र के सम्पूर्ण गुणों को नाश करने वाला है; इसीलिए इस की इतनी महत्ता है तीर्थंकरों ने ऐसा माना है; और कहा है, कि गुड़, घी, शक्कर आदि वस्तुओं में से किसी भी वस्तु को साधु हो कर कदाचित् अपने पास रात भर रखने की इच्छा मात्र करे या औरों के पास रखवा लेवें तो वह गृहस्थ भी नहीं है। क्योंकि उसके पहन ने का वेष साधुका है। और वह साधु भी नहीं है क्योंकि जो साधु होते हैं; उनके लिए उपर्युक्त कोई भी चीजें रात रखने की इच्छा मात्र भी करना मना है। अतएव साधु को दूसरे दिन के लिए खाने तक की कोई वस्तु का भी संग्रह करके न रखना चाहिए।

जं पि वत्थं व पायं वा; कम्बलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा; धारेन्ति परिहंति य ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जं) जो (पि) भी (वत्थं) वस्त्र (व) अथवा (पायं) पात्र (वा) अथवा (कम्बलं) उन का वस्त्र (पायपुंछणं) पग पोंछने का वस्त्र (तं) उसको (पि) भी (संजमलज्जट्ठा) संजम लज्जा 'रक्षा' के लिए (धारेंति) लेते हैं (य) और (परिहरंति) पहनते है

भावार्थः-हे गौतम ! जब यह कह दिया कि कोई भी वस्तु नहीं रखना और वस्त्र पात्र वग़ैरह, साधु रखते हैं, तो भला लोभ संबंध में इस जगह सहज ही प्रश्न उठता है, हाँ वह प्रश्न अवश्य उपस्थित होता है। किन्तु जो संयम रखने वाला साधु है; वह केवल संयम की रक्षा के हेतु वस्त्र पात्र वग़ैरह लेता है। और पहनता है। इसलिए संयम

पालने के लिए उसके साधन-वस्त्र, पात्र, वगैरह रखने में लोभ नहीं है।

न सो परिग्गहो वुत्तो; नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो; इइ वुत्तं महेसिणा ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (सो) संयम की रक्षा के लिए रक्खे हुए वस्त्र, पात्र, वगैरह हैं, उनको (परिग्गहो) परिग्रह (ताइणा) त्राता (नायपुत्तेण) तीर्थंकरने (न) नहीं (वुत्तो) कहा है किन्तु उन वस्तुओं पर (मुच्छा) मोह रखना वही (परिग्गहो) परिग्रह (वुत्तो) कहा जाता है (इइ) इस प्रकार (महेसिणा) तीर्थंकरों ने (वुत्तं) कहा है।

भावार्थः-हे गौतम ! संयम को पालने के लिए जो वस्त्र, पात्र, वगैरह रक्खे जाते हैं, उन को तीर्थंकरों ने परिग्रह [Attachment to mammon the fifth Papasthanaka] नहीं कहा है। हां यदि वस्त्र, पात्र आदि पर ममत्व भाव हो, या वस्त्र पात्र ही क्यों, अपने शरीर पर देखो न, इस पर भी ममत्व यदि हुआ, कि अवश्य वह परिग्रह के दोष से दूषित बन जाता है। और वह परिग्रह का दोष चारित्र के गुणों को नष्ट करने में सहायक होता। है

एयं च दोसं दट्ठूणं, नायपुत्तेण भासियं।
सव्वाहारं न भुंजंति; निग्गंथा राइभोयणं ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (च) और (एयं) इस (दोसं) दोष को (दट्ठूणं) देख कर (नायपुत्तेण) तीर्थं-

कर ने (भासियं) कहा है। (निग्गंथा) निर्ग्रन्थ जो हैं वे (सव्वहारं) सब प्रकार के आहार को (राइभोयणं) रात्रि के भोजन अर्थात् रात्रि में (नो) नहीं (भुंजंति) भोगते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! रात्रि के समय भोजन करने में कई तरह के जीव भी खाने में आ जाते हैं। अतः उन जीवों की, भोजन करने वालों से हिंसा हो जाती है। और वे फिर कई तरह के रोग भी पैदा कर बैठते हैं। अतः रात्रि-भोजन करने में ऐसा दोष देख कर वीतरागों ने उपदेश किया है, कि जो निर्ग्रन्थ Possessionless or passionless ascetic होते हैं वे सब प्रकार से खाने पीने की कोई भी वस्तु का रात्रि में सेवन नहीं करते हैं।

पुढविं न खणे न खणावए;
सीओदगं न पिए न पियावए।
अगणि सत्थं जहा सुनिसियं;
तं न जले न जलावए जे स भिक्खू ॥६॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (पुढविं) पृथ्वी को स्वयं (न) नहीं (खणे) खोदे औरों से भी (न) न (खणावए) खुदवावे (सीओदगं) शीतोदक-सचितजल को (न) नहीं पीवे, औरों को भी (न) न (पियावए) पिलावे; (जहा) जैसे (सुनिसियं) खूब अच्छी तरह तीक्ष्ण (सत्थं) शस्त्र होता है, उसी तरह (अगणि) अग्नि है (तं) उसको स्वयं (न) नहीं (जले) जलावे, औरों से भी (न) न (जलावए) जलवावे (स) वही (भिक्खू) साधु है।

भावार्थः--हे गौतम ! सर्वथा हिंसा से जो बचना चाहता है। वह न स्वयं पृथ्वी को खोदे और न औरों से भी खुदवावे। इसी तरह न सचित (जिस में जीव हो उस) जल को खुद पीवे और न औरों को पिलावे। उसी तरह न अग्नि को भी स्वयं प्रदीप्त करे और न औरों ही से प्रदीप्त करवावे बस, वही साधु है।

अनिलेण न वीए न वीयावए;
हरियाणि न छिंदे न छिंदावए ॥
बीयाणि सया विवज्जयंतो;
सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्खू ॥ १० ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (अनिलेण) वायु के हेतु पंखे को (न) नहीं (वीए) चलाता है, और (न) न औरों से ही (वीयावए) चलवाता है (हरियाणि) वनस्पतियोंको स्वतः (न) नहीं (छिंदे) छेदता और (न) न औरों ही से (छिंदावए) छिदवाता है, (बीयाणि) बीजों को छेदना (सया) सदा (विवज्जयंतो) छोड़ता हुआ (सचित्तं) सचित पदार्थ को जो (न) न (आहारए) खाता है। (स) वही (भिक्खू) साधु है।

भावार्थः--हे गौतम ! जिसने इन्द्रिय-जन्य सुखों की ओर से अपना मुँह मोड़ लिया है, वह कभी भी हवा के लिये पंखो का न तो स्वतः प्रयोग करता है और न औरों से उस का प्रयोग करवाता है। और पान, फल, फूल आदि वनस्पतियों का भक्षण छोड़ता हुआ, सचित (An anim-

ate thing; as water, flower, fruit, greengrass etc,) पदार्थों का कभी आहार नहीं करता, वही साधु है।

महुकारसमा बुद्धा; जे भवंति अणिस्सिया।
नाणापिण्डरया दंता; तेण वुच्चंति साहुणो ॥११॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (महुकारसमा) जिस-प्रकार थोड़ा थोड़ा रस लेकर भ्रमर जीवन बिताते हैं, ऐसे ही (जे) जो (दंता) इन्द्रियों को जीतते हुए (नाणा-पिंडरया) नाना प्रकार के आहार में उद्वेग रहित रत रहने वाले हैं ऐसे (बुद्धा) तत्त्वज्ञ (अणिस्सिया) नेश्राय रहित (भवंति) होते हैं (तेण) उस करके उनको (साहुणो) साधु (वुच्चंति) कहते हैं।

भावार्थः--हे गौतम ! जिस प्रकार भ्रमर फूलों पर से थोड़ा थोड़ा रस लेकर अपना जीवन बिताता है। इसी तरह जो अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करते हुए तीखे कडुवे, मधुर, आदि नाना प्रकार के भोजनों में उद्वेग रहित होते हैं। तथा जो समय पर जैसा भी निर्दोष भोजन मिला, उसी को खाकर आनंद मय संयमी जीवन को अनेश्रित हो कर बिताते हैं, उन्हीं को हे गौतम ! साधु कहते हैं।

जे न वंदे न से कुप्पे; वंदिओ न समुक्कसे।
एवमन्नेसमाणस्स; सामण्णमणुचिट्ठइ ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (जे) जो कोई गृहस्थ साधु को (न) नहीं (वंदे) वन्दना करता (से) वह साधु उस

गृहस्थ पर (न) न (कुप्पे) क्रोध करे, और (वंदिओ) वंदना करने पर (न) न (समुक्कसे) उत्कर्षता ही दिखावे (एवं) इस प्रकार (अन्नेममाणस्स) गवेषणा करने वाले का (सामण्णं) सम्पूर्ण चारित्र (अणुचिट्ठइ) रहता है।

भावार्थः—हे गौतम ! साधु को कोई वन्दना करे या न करे तो उस गृहस्थ पर वह साधु क्रोधित न हो। साधुता के गुणों पर यदि कोई राजादि मुग्ध हो जा, और वह वन्दनादि करे तो वह साधु गर्वान्वित भी कभी न हो, बस, इस प्रकार चारित्र को दूषित करने वाले दूषणों को देखता हुआ उन्हों से बाल बाल बचता रहे उसी का चारित्र [Right conduct; ascetic conduct inspired by the subsidence of abstructive Karma] अखण्ड रहता है।

पण्ण समत्ते सया जए;
समताधम्ममुदाहरे मुणी ।
सुहमे उ सया अलूसए;
णो कुज्झे णो माणि माहणे ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (पण्णसमत्ते) समग्र प्रज्ञा करके सहित तथा प्रश्न करने पर उत्तर देने में समर्थ (सया) हमेशा (जए) वह कषायादि को जीते (समताधम्ममुदाहरे) समभाव से धर्म को (मुणी) वह साधु कहता हो, और (सया) सदैव (सुहमे) सूक्ष्म चारित्र में (अलूसए) अविराधक हो, उन्हें ताड़ने पर (णो) नहीं (कुज्झे) क्रोधित हो एवं सत्कार करने पर (णो) नहीं (माणि) मानी हो, वही (माहणे) साधु है।

भावार्थः-हे गौतम ! तीच्ण बुद्धि करके सहित हो, प्रश्न करने पर जो शान्तता से उत्तर देने में समर्थ हो, समता भाव से जो धर्म कथा कहता हो, चारित्र में सूक्ष्म रीति से भी जो विराधक न हो, ताड़ने तर्जने पर क्रोधित और सत्कार करेन पर गर्वान्वित जो न होता हो, सचमुच में वही साधु पुरुष है।

न तस्स जाई व कुलं व ताणं;
णण्णत्थ विज्जा चरणं सुचिन्नं ।
णिक्खम्म से सेवइ गारिकम्मं;
ण से पारए होइ विमोयणाए ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (सुचिन्नं) अच्छी तरह संग्रह किया हुआ (विज्जा) ज्ञान (चरणं) चारित्र के सिवाय (णण्णत्थ) दूसरा कोई नहीं (तस्स) उसके (जाई) जाति (व) और (कुलं) कुल (ताणं) शरण (न) नहीं होता है। जो (से) वह (णिक्खम्म) संसार प्रपंच से निकल कर (गारिकम्मं) पुनः गृहस्थ कर्म (सेवइ) सेवन करता (से) वह (विमोयणाए) कर्म मुक्त करने के लिये (पारए) संसार से परले पार (ण) नहीं (होइ) होता है।

भावार्थः-हे गौतम ! साधु हो कर जाति और कुल का जो मद करता है, इस में उसकी साधुता नहीं है। प्रत्युत वह गर्व-त्राण भूत न हो कर हीन जाति और कुल में पैदा करने की सामग्री एकत्रित करता है। केवल ज्ञान एवं क्रिया के सिवाय और कुछ भी परलोक में हित पथ लिए नहीं

है। और साधु हो कर गृहस्थ जैसे कार्य फिर करता है वह संसार समुद्र से परले पार होने में समर्थ नहीं है।

एवं ण से होइ समाहिपत्ते;
जे पन्नव भिक्खु विउक्कसेज्जा।
अहवा वि जे लाभमयावलित्ते;
अन्नं जणं खिंसति बालपन्ने ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (एवं) इस प्रकार से (से) वह गर्व करने वाला साधु (समाहिपत्ते) समाधि मार्ग को प्राप्त (ण) नहीं (होइ) होता है। और (जे) जो (पन्नव) प्रज्ञावंत (भिक्खु) साधु हो कर (विउक्कसेज्जा) आत्म प्रशंसा करता है। (अहवा) अथवा (जे) जो (लाभमयावलिते) लाभ मद में लिप्त हो रहा है वह (बालपन्ने) मूर्ख (अन्नं) अन्य (जणं) जनकी (खिसंति) निन्दा करता है।

भावार्थः-हे गौतम ! मैं जातिवान् हूं, कुलवान् हूं। इस प्रकार का गर्व करने वाला साधु समाधि मार्ग को कभी प्राप्त नहीं होता है। जो बुद्धिमान् हो कर फिर भी अपने आपही की आत्म प्रशंसा करता है, अथवा यों कहता है, कि मैं ही साधुओं के लिए वस्त्र, पात्र आदि का प्रबंध करता हूँ। बेचारा दूसरा क्या कर सकता है ? वह तो पेट भरने तक की चिन्ता दूर नहीं कर सकता, इस तरह दूसरों की निन्दा जो करता है, वह साधु कभी नहीं है।

न पूयणं चेव सिलोयकामी;
पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा ।
सव्वे अणट्ठे परिवज्जयंते;
अणाउले या अकसाइ भिक्खू ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! साधु (पूयणं) वस्त्र पात्रादि की (न) इच्छा न करे (चेव) और न (सिलोयकामी) आत्म प्रशंसा का कामी ही हो (कस्सइ) किसी के साथ (पियमप्पियं) राग और द्वेष (णो) न (करेज्जा) करे (सव्वे) सभी ऐसी (अणट्ठे) अनर्थकारी बातों को जो (परिवज्जयंते) छोड़ दे (अणाउले) फिर भय रहित (या) और (अकसाइ) कषाय रहित होकर (भिक्खू) साधु प्रवचन करे ।

भावार्थः–हे गौतम ! साधु प्रवचन करते समय वस्त्रादि की प्राप्ति की एवं आत्म प्रशंसा की वांछा कभी न रक्खे। या किसी के साथ राग और द्वेष से संबंध रखने वाले कथन को भी वह न करे । इस प्रकार आत्मा कलुषित करने वाली सभी अनर्थकारी बातों को छोड़ते हुए भय एवं कषाय रहित हो कर साधु को प्रवचन करना चाहिए ।

जाए सद्धाए निक्खंतो; परियायट्ठाणमुत्तमं ।
तमेव अणुपालिज्जा; गुणे आयरिय सम्मए ॥१७॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (जाए) जिस (सद्धाए) श्रद्धा से (उत्तमं) प्रधान (परियायट्ठाणं) प्रव्रज्यास्थान प्राप्त करने को (निक्खंतो) मायामय कर्मों से निकला

(तमेव) वैसी ही उच्च भावनाओं से (आयरियसम्मए) तीर्थंकर कथित ([१] गुणे) गुणों की (अणुपालिज्जा) पालना करनी चाहिए।

भावार्थः--हे गौतम ! जो गृहस्थ जिस श्रद्धा से प्रधान दीक्षा स्थान प्राप्त करने को मायामय काम रूप संसार से पृथक् हुआ उसी भावना से जीवन पर्यंत उसको तीर्थंकर प्ररूपित गुणों में वृद्धि करते रहना चाहिए।

॥ इति निर्ग्रन्थ प्रवचनस्य नवमोऽध्यायः ॥



(१) सप्तमी के अर्थ में षष्ठी है।

❀ अध्याय दसवां ❀

॥ श्री भगवानुवाच ॥

दुमपत्तए पंडुअए जहा;
निवडइ राइगणाण अच्चए ।
एवं मणुआणं जीविअं;
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (राइगणाण-अच्चए) रात दिन के समूह बीत जाने पर (पंडुअए) पक जाने से (दुमपत्तए) वृक्ष का पत्ता (निवडइ) गिर जाता है (एवं) ऐसे ही (मणुआणं) मनुष्यों का (जीविअं) जीवन है । अतः (गोयम !) हे गौतम ! (समयं) जरा से समय मात्र के लिए भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर ।

भावार्थः—हे गौतम ! जैसे समय पा कर वृक्ष के पत्ते पीले पड़ जाते हैं; फिर वे पक कर गिर जाते हैं । उसी प्रकार मनुष्यों का जीवन है । अतः हे गौतम ! धर्म का पालन करने में एक क्षण मात्र को भी व्यर्थ मत गवाँओ ।

कुसग्गे जह ओसबिंदुए;
थोवं चिट्ठइ लंबमाणए ।

एवं मणुश्राण जीविअं;
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (जह) जैसे (कुसग्गे) कुश के अग्रभाग पर (लंबमाणए) लटकती हुई (ओस-बिंदुए) ओस की बूँद (थोवं) अल्प समय (चिट्ठइ) रहती है (एवं) इसी प्रकार (मणुश्राणं) मनुष्य का (जीविअं) जीवन है। अतः (गोयम !) हे गौतम ! (समयं) एक समय मात्र (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः--हे गौतम ! जैसे घास के अग्रभाग पर तरल ओस की बूँद थोड़े ही समय तक टिक सकती है। ऐसे ही मानव शरीर धारियों का जीवन है। अतः हे गौतम ! ज़रा से समय के लिए भी ग़ाफ़िल मत रह।

इइ इत्तरिअम्मि आउए;
जीविअए बहुपच्चवायए।
विहुणाहि रयं पुरेकडं;
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (इइ) इस प्रकार (आउए) निरुपक्रम आयुष्य (इत्तरिअम्मि) अल्प काल का होता हुआ और, (जीविअए) जीवन सोपक्रमी होता हुआ (बहुपच्चवायए) बहुत विघ्नों से घिरा हुआ समझ करके (पुरेकडं) पहले की हुई (रयं) कर्म रूपी रजको (विहुणाहि) दूर करो, इस कार्य में (गोयम !) हे गौतम ! (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः-हे गौतम! जिसे शस्त्र, विष, आदि उपक्रम भी बाधा नहीं पहुँचा सकते, ऐसा नोपक्रमी आयुष्य भी थोड़ा होता है। और शस्त्र, विष, आदि से जिसे बाधा पहुँच सके ऐसा सोपक्रमी जीवन भी थोड़ा ही है। उस में भी ज्वर, खांसी, आदि अनेक व्याधियों का विघ्न भरा पड़ा होता है। ऐसा समझ कर हे गौतम! पूर्व के किये हुए कर्मों को दूर करने में क्षण भर समय का भी दुरुपयोग न करो।

दुल्लहे खलु माणुसे भवे;
चिरकालेण वि सव्वपाणिणं ।
गाढा य विवाग कम्मुणो;
समयं गोयम! मा पमायए ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति! (सव्वपाणिणं) सब प्राणियों को (चिरकालेण वि) बहुत काल से भी (खलु) निश्चय करके (माणुसे) मनुष्य (भवे) भव (दुल्लहे) मिलना कठिन है। (य) क्योंकि (कम्मुणो) कर्मों के (विवाग) विपाक को (गाढा) नाश करना कठिन है। अतः (गोयम!) हे गौतम!(समयं)समय मात्र का(मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः--हे गौतम! जीवों को एकेन्द्रिय आदि योनियों में इधर उधर जन्मते मरते हुए बहुत काल गया। परंतु दुर्लभ मनुष्य जन्म नहीं मिला। क्योंकि मनुष्य जन्म के प्राप्त होने में जो रोड़ा अटकाते हैं ऐसे कर्मों का विपाक नाश करने में महान् कठिनाई है। अतः हे गौतम! मानव देह पा कर पल भर का भी प्रमाद कभी मत कर।

पुढविकायमइगओ; उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं; समयं गोयम ! मा पमायए ॥५॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (पुढविकायमइगओ) पृथ्वी काय में गया हुआ (जीवो) जीव (उक्कोसं) उत्कृष्ट (संखाईयं) संख्या से अतीत अर्थात् असंख्य (कालं) काल तक (संवसे) रहता है । अतः (गोयम !) हे गौतम ! (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर ।

भावार्थः-हे गौतम ! यह जीव पृथ्वी काय [Body of the living beings of the earth] में जन्म-मरण को धारण करता हुआ उत्कृष्ट असंख्य काल अर्थात् असंख्य सार्पिणी उत्सर्पिणी काल तक को बिताता रहता है । अतः हे मानव-देह-धारी गौतम ! तुझे एक क्षण मात्र की भी ग़फ़लत करना उचित नहीं है ।

आउक्कायमइगओ; उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं; समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ६ ॥
तेउक्कायमइगओ; उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं; समयं गोयम मा पमायए ॥ ७ ॥
वाउक्कायमइगओ; उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं; समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (जीवो) जीव (आउक्कायमइगओ) अपकाया को प्राप्त हुआ (उक्कोसं) उत्कृष्ट (संखाईय) संख्या अतीत (काल) काल तक (सं-

वसे) रहता है। अतः (गोयम) हे गौतम (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर ॥ ६ ॥ इसी तरह (तेउकायमइगओ) अग्निकाय को प्राप्त हुआ जीव और (वाउकायमइगओ) वायुकाय को प्राप्त हुआ जीव असंख्य काल तक रह जाता है।

भावार्थः-हे गौतम ! इसी तरह यह आत्मा जल, अग्नि तथा हवा में असंख्य काल तक जन्म मरण को धारण करती रहती है। इसीलिए तो कहा जाता है कि मानव जन्म मिलना महान् कठिन है। अतएव हे गौतम ! तुझे धर्म का पालन करने में तनिक भी ग़ाफ़िल न रहना चाहिए।

वणस्सइकायमइगओ; उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालमणंतं दुरंतयं; समयं गोयम ! मा पमायए ॥६॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (वणस्सइकायमइगओ) वनस्पति काय में गया हुआ (जीवो) जीव (उक्कोसं) उत्कृष्ट (दुरंतयं) कठिनाई से अन्त आवे ऐसा (अणंतं) अनंत (कालं) काल तक (संवसे) रहता है। अतः (गोयम) हे गौतम ! (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः-हे गौतम ! यह आत्मा वनस्पतिकाय में अपने कृत कर्मों द्वारा जन्म मरण करती है, तो उत्कृष्ट अनंत काल तक उसी में गोता लगाया करती है। और इसी से उस आत्मा को मानव शरीर मिलना कठिन हो जाता है। इस लिए हे गौतम ! पल भर के लिए भी प्रमाद मत कर।

बेइंदिअकायमइगओ;
उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखिज्जसरिणअं;
समय गोयम ! मा पमायए ॥ १० ॥

अन्वयार्थः- हे इन्द्रभूति ! (बेइंदिअकायमइगओ) द्वितीयेन्द्रिय योनि को प्राप्त हुआ (जीवो) जीव (उक्कोसं) उत्कृष्ट (संखिज्जसंरिणअं) संख्या की संज्ञा है जहां तक ऐसे (कालं) काल तक (संवसे) रहता है। अतः (गोयम) हे गौतम ! (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः-हे गौतम ! जब यह आत्मा दो इंद्रियवाली योनियों में जाकर जन्म धारण करती है तो काल गणना की जहां तक संख्या बताई जाती है वहां तक अर्थात् संख्याता काल तक उसी योनि में जन्ममरण को धारण करती रहती है। अतः हे गौतम ! क्षण मात्र का भी प्रमाद न कर।

तेइंदियकायमइगओ;
उक्कोसं जीवो उ संवसे,
कालं संखिज्जसंरिणअं ।
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ ११ ॥
चउरिंदियकायमइगओ;
उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखिज्जसंरिणअं;
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (तेइंदियकायमइगओ) तृतीयेन्द्रियवाली योनिको प्राप्त हुआ (जीवो) जीव (उक्कोसं) उत्कृष्ट (संखिज्जसंखिज्जसंरिणअं) काल गणना की जहां तक संख्या बताई जाती है वहां तक अर्थात् संख्यात (कालं) काल तक (संवसे) रहता है। इसी तरह (चउरिंदियकायमइगओ) चतुरिंद्रिय वाली योनि को प्राप्त हुए जीव के लिए भी जानना चाहिए अतः (गोयम !) हे गौतम ! (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः--हे गौतम ! जब यह आत्मा तीन इन्द्रिय तथा चार इन्द्रियवाली योनि में जाती है तो अधिक से अधिक संख्याता काल तक उन्हीं योनियों में जन्म मरणको धारण करती रहती हैं। अतः हे गौतम ! धर्म की वृद्धि करने में एक पल भर का भी कभी प्रमाद न कर।

पंचिंदियकायमइगओ; उक्कोसं जीवो उ संवसे।
सत्तट्ठभवग्गहणे; समयं गोयम ! मा पमायए ॥१३॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (पंचिंदियकायमइगओ) पांचइन्द्रिय वाली योनि को प्राप्त हुआ (जीवो) जीव (उक्कोसं) उत्कृष्ट (सत्तट्ठभवग्गहणे) सात आठ भव तक(संवसे) रहता है। अतः (गोयम!) हे गौतम ! (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः--हे गौतम ! यह आत्मा पंचेन्द्रियवाली तिर्यंचकी योनियों में जब जाती है,तब यह अधिक से अधिक सात आठ भव तक उसी योनि में निवास करती है। अतः हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद कभी मत कर।

देवे नेरइए अइगओ; उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
इक्किक्कभवग्गहणे; समयं गोयम! मा पमायए ॥१४॥

अन्वयार्थ--हे इन्द्रभूति ! (देवे) देव (नेरइए) नारकीय भवों में (अइगओ) गया हुआ (जीवो) जीव (इक्किक्कभवग्गहणे) एक एक भव तक ही उस में (संवसे) रहता है । अतः (गोयम !) हे गौतम ! (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद कभी मत कर ।

भावार्थः-हे गौतम ! जब यह आत्मा देव अथवा नारकीय भवों में जन्म लेती है तो वहाँ सिर्फ़ एक एक जन्म तक यह रहती है अतएव हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर ।

एवं भवसंसारे. संसरइ सुहासुहेहिं कम्मेहिं ।
जीवो पमायबहुलो; समयं गोयम! मा पमायए॥१५॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (एवं) इस प्रकार (भवसंसारे) जन्म मरण रूप संसार में (पमायबहुलो) अति प्रमाद वाला (जीवो) जीव (सुहासुहेहिं) शुभ अशुभ (कम्मेहिं) कर्मों के कारण से (संसरइ) भ्रमण करता रहता है । अतः (गोयम !) हे गौतम ! (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद कभी मत कर ।

भावार्थः-हे गौतम ! इस प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आदि एकेन्द्रिय द्वेन्द्रिय. तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय वाली तिर्यंच योनियों में एवं देव तथा नरक में संख्याता, असंख्याता और अनंत काल तक अपने शुभाशुभ कर्मों के कारण यह जीव भटकता फिरता है । इसी से कहा गया है कि इस आत्मा को मनुष्य भव मिलना महान् कठिन

है। इसलिए मानव-देह-धारी हे गौतम ! अपनी आत्मा को उत्तम अवस्था में पहुँचाने के लिए तनिक समय मात्र का भी प्रमाद कभी मत कर।

लद्धूणवि माणुसत्तणं,
आरिअत्तं पुणरवि दुल्लहं।
बहवे दसुआ मिलक्खुआ;
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (माणुसत्तणं) मनुष्यत्व (लद्धूणवि) प्राप्त होने पर भी (पुणरवि) फिर (आरिअत्तं) आर्यत्व का मिलना (दुल्लहं) दुर्लभ है। क्योंकि (बहवे) बहुतों को यदि मनुष्य भव मिल भी गया तो वे (दसुआ) चोर और (मिलक्खुआ) म्लेच्छ हो गये अतः (गोयम !) हे गौतम ! (समयं) समय मात्र का भी (मा॰ पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः-हे गौतम ! यदि इस जीव को मनुष्य जन्म मिल भी गया तो आर्य देश में जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त होना महान् दुर्लभ है। क्योंकि बहुत से नाम मात्र के मनुष्य पर्वतों की कन्दराओं में रह कर चोरी वग़ैरह करके अपना जीवन बिताते हैं। ऐसे नाम मात्र की मनुष्यों की कोटि में और म्लेच्छ जाति में जहां कि घोर हिंसा के कारण जीव कभी ऊंचा नहीं उठता ऐसी जाति और देश में जीवने मनुष्य देह पा भी ली तो किस काम की ! इसलिए आर्य देश में जन्म लेने वाले हे गौतम ! एक पल भर का भी प्रमाद मत कर।

लद्धूणवि आरियत्तणं; अहीणपंचिंदियया हु दुल्लहा।
विगलिंदियया हु दीसइ, समयं गोयमा मा पमायए।१७।

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (आरियत्तणं) आर्यत्व के (लद्धूण वि) प्राप्त होने पर भी (हु) पुनः (अहीणपंचिंदियया) अहीन पंचेन्द्रियपन मिलना (दुल्लहा) दुर्लभ है (हु) क्योंकि अधिकतर (विगलिंदियया) विकलेन्द्रिय वाले (दीसइ) दीख पड़ते हैं। अतः (गोयम!) हे गौतम! (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः-हे गौतम ! मानव-देह आर्य देश में भी पा गया परन्तु सम्पूर्ण इन्द्रियों की शक्ति सहित मानव देह मिलना महान् कठिन है। क्योंकि बहुत से ऐसे मनुष्य देखने में आते हैं कि जिनकी इन्द्रियां विकल हैं। जो कानों से वधिर हैं। जो आँखों से अंधे और हाथ पावों से अपङ्ग हैं। इसलिए सशक्त इन्द्रियों वाले हे गौतम ! चौदवां गुणस्थान प्राप्त करने में कभी आलस मत कर।

अहीणपंचिंदियत्तं पि से लहे;
उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा।
कुतित्थिनिसेवए जणे;
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१८॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (अहीणपंचिंदियत्तं पि) पांचों इन्द्रियों की सम्पूर्णता भी (से) वह जीव (लहे) प्राप्त करे तदपि (उत्तमधम्मसुई) यथार्थ धर्म का श्रवण होना(दुल्लहा) दुर्लभ है। (हु) निश्चय करके, क्योंकि (जणे) बहुत से मनुष्य (कुतित्थिनिसेवए) कुतीर्थी की उपासना करनेवाले

हैं। अतः (गोयम) हे गौतम ! (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः-हे गौतम ! पांचों इन्द्रियों की सम्पूर्णतावाले को आर्य देश में मनुष्य जन्म भी मिल गया तो अच्छे शास्त्र का श्रवण मिलना और भी कठिन है। क्योंकि बहुत से मनुष्य जो इह लौकिक सुखों को ही धर्म का रूप देने वाले हैं कुतीर्थी रूप हैं। नाम मात्र के गुरु कहलाते है। उन की उपासना करने वाले हैं। इसलिए उत्तम शास्त्र श्रोता हे गौतम ! कर्मों का नाश करने में तनिक भी ढील मत कर।

लद्धूणवि उत्तमं सुइं;
सद्दहणा पुणरवि दुल्लहा।
मिच्छत्तनिसेवए जणे;
समयं गोयमा ! मा पमायए॥ १९ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (उत्तमं) प्रधान शास्त्र (सुइं) श्रवण (लद्धूण वि) मिलने पर भी (पुणरवि) पुनः (सद्दहणा) उस पर श्रद्धा होना (दुल्लहा) दुर्लभ है। क्योंकि (जणे) बहुत से मनुष्य (मिच्छत्तनिसेवए) मिथ्यात्व का सेवन करते हैं। अतः (गोयम) हे गौतम ! (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः -हे गौतम ! सच्छास्त्र का श्रवण भी हो जाय तो भी उस पर श्रद्धा होना महान् कठिन है। क्योंकि बहुत से ऐसे भी मनुष्य हैं। जो सच्छास्त्र श्रवण करके भी मिथ्यात्व का बड़े ही जोरों के साथ सेवन करते हैं। अतः हे श्रद्धावान् गौतम ! सिद्धावस्था को प्राप्त करने में आलस्य कभी मत कर।

धम्मं पि हु सद्दहंतया;
दुल्लहया काएण फासया ।
इह कामगुणेहि मुच्छिया;
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२०॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (धम्मं पि) धर्म को भी (सद्दहंतया) श्रद्धते हुए (काएण) काया करके (फासया) स्पर्श करना (दुल्लहया) दुर्लभ है (हु) क्योंकि (इह) इस संसार में बहुत से जन (कामगुणेहि) भोगादि के विषयों से (मुच्छिया) मूर्च्छित हो रहे हैं अतः (गोयम) हे गौतम ! (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर ।

भावार्थः–हे गौतम ! प्रधान धर्म पर श्रद्धा होने पर भी उसके अनुसार चलना और भी कठिन है । धर्म को सत्य कहने वाले वाचाल तो बहुत लोग मिलेंगे पर उसके अनुसार अपना जीवन बिताने वाले बहुत ही थोड़े देखे जावेंगे । क्योंकि इस संसार के काम भोगों से मोहित हो कर अनेकों प्राणी अपना अमूल्य समय अपने हाथों खो रहे हैं । इसलिए श्रद्धापूर्वक क्रिया करने वाले हे गौतम ! कर्मों का नाश करने में एक क्षण मात्र का भी प्रमाद मत कर ।

परिजूरइ ते सरीरयं;
केसा पंडुरया हवंति ते ।
से सोयबले य हायई;
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २१ ॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (ते) तेरा (सरीरयं) शरीर (परिजूरइ) जीर्ण होने वाला है। (ते) तेरे (केसा) बाल (पंडुरया) सफेद (हवंति) होते जा रहे हैं। (य) और (से) वह शक्ति जो पहले थी (सोयबले) श्रोतेन्द्रिय की शक्ति अथवा "सव्वबले" कान, नाक, आँख, जिह्वा आदि की शक्ति (हायई) हीन होती जा रही है। अतः (गोयम) हे गौतम ! (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः–हे गौतम ! आये दिन तेरी वृद्धावस्था निकट आती जा रही है। बाल सफेद होते जा रहे हैं। और कान, नाक, आँख जीभ, शरीर हाथ पैर आदि की शक्ति भी पहले की अपेक्षा न्यून होती जा रही है। अतः हे गौतम ! समय को अमूल्य समझ कर धर्म का पालन करने में क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

अरई गंडं विसूइया,
आयंका विविहा फुसंति ते।
विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २२ ॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (अरई) चित्त को उद्वेग (गंडं) गाँठ गूमड़े (विसूइया) दस्त उल्टी और (विविहा) विविध प्रकार के (आयंका) प्राण घातक रोगों को (ते) तेरे जैसे ये बहुत से मानव शरीर (फुसंति) स्पर्श करते हैं (ते सरीरयं) तेरे जैसे ये बहुत मानव-शरीर (विहडइ) बल की हीनता से गिरते जा रहे हैं। और (विद्धंसइ) अन्त में मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। अतः (गोयम !) हे गौतम ! (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः-हे गौतम ! यह मानव शरीर उद्वेग, गाँठ, गूमड़ा, वमन, विरेचन और प्राण घातक रोगों का घर है और अन्त में बल हीन होकर मृत्यु को भी प्राप्त हो जाता है। अतः मानव-शरीर को ऐसे रोगों का घर समझ कर हे गौतम ! मुक्ति को पाने में विलम्ब मत कर।

वोच्छिंद सिणेहमप्पणो;
कुमुयं सारइयं वा पाणियं।
से सव्वसिणेहं वज्जिए;
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २३ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (सारइयं) शरद ऋतु के (कुमुयं) कुमुद (पाणियं) पानी को (वा) जैसे त्याग देते हैं। ऐसे ही (अप्पणो) तू अपने (सिणेहं) स्नेह को (वोछिंद) दूर कर (से) इसलिए (सव्वसिणेहवज्जिए) सर्व प्रकार के स्नेह को त्यागता हुआ (गोयम !) हे गौतम! (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः-हे गौतम ! शरद ऋतु का चन्द्र विकासी कमल जैसे पानी को अपने से पृथक् कर देता है। उसी तरह तू अपने मोह को दूर करने में समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

चिच्चा धणं च भारियं;
पव्वइओ हि सि अणगारियं।
मा वंतं पुणो वि आविए;
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २४ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (हि) यदि तूने (धणं) धन (च) और (भारियं) भार्या को (चिच्चा) छोड़ कर (अणगारियं) साधु पन को (पव्वइओसि) प्राप्त कर लिया है। अतः (वंतं) वमन किये हुए को (पुणो वि) फिर भी (मा) मत (आविए) पी, प्रत्युत त्याग वृत्ति को निश्चल रखने में (गोयम !) हे गौतम ! (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर !

भावार्थः-हे गौतम ! तूने धन और स्त्री को त्याग कर साधु वृति को धारण करने की मन में इच्छा करली है। तो उन त्यागे हुए विषैले पदार्थों का पुनः सेवन करने की इच्छा मत कर। प्रत्युत त्याग वृत्ति को दृढ़ करने में एक समय मात्र का भी प्रमाद कभी मत कर।

न हु जिणे अज्ज दिसई;
बहुमए दिसइ मग्गदेसिए।
संपइ नेयाउए पहे;
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २५ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (अज्ज) आज (जिणे) तीर्थंकर (न) नहीं हैं (हु) निश्चय करके (दिसई) दिखते हैं, किन्तु (मग्गदेसिए) मार्ग दर्शक और (बहुमए) बहुतों का माननीय मोक्षमार्ग (दिसई) दिखता है। ऐसा कह कर पंचम काल के लोग धर्म ध्यान करेंगे। तो भला (संपइ) वर्तमान् में मेरे मौजूद होते हुए (नेयाउए) नैयायिक (पहे) मार्ग में (गोयम !) हे गौतम ! (समयं) समय मात्र का भी (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थ -हे गौतम ! पंचम काल में लोग कहेंगे कि आज तीर्थंकर तो हैं नहीं, पर तीर्थंकर प्ररूपित मार्ग दर्शक और अनेकों के द्वारा माननीय यह मोक्ष मार्ग है; ऐसा वे सम्यक् प्रकार से समझते हुए धर्म की आराधना करने में प्रमाद नहीं करेंगे। तो मेरे मौजूद रहते हुए न्याय पथ से साध्य स्थान पर पहुँचने के लिए हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर,

अवसोहियाकंटगापहं;

उइएणो सि पहं महालयं।

गच्छसि मग्गं विसोहिया;

समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २६ ॥

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति! (कंटगापहं) कंटक सहित पंथ को (अवसोहिया) छोड़ कर (महालयं) विशाल मार्ग को (उइएणोसि) प्राप्त होता हुआ, उसी (विसोहिया) विशेष प्रकार से शोधित(मग्गं) मार्ग को (गच्छसि) जाता है। अतः इसी मार्ग को तय करने में (गोयम !) हे गौतम ! (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः-हे गौतम ! संकुचित अतथ्य पथ को छोड़ कर जो तूने विशाल तथ्य मार्ग को प्राप्त कर लिया है। और उस के अनुसार तू उसी विशाल मार्ग का पथिक भी बन चुका है। अतः इसी मार्ग से अपने निजी स्थान पर पहुँचने के लिए हे गौतम! तू एक समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

अबले जह भारवाहए;
मा मग्गे विसमेऽवगाहिया।
पच्छा पच्छाणुतावए;
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२७॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जह) जैसे (अबले) बल रहित (भारवाहए) बोझा ढोने वाला मनुष्य (विसमे) विषम (मग्गे) मार्ग में (अवगाहिया) प्रवेश हो कर (पच्छा) फिर (पच्छाणुतावए) पश्चाताप करता है। (मा) ऐसा मत बन। परन्तु जो सरल मार्ग मिला है उसको तय करने में (गोयम !) हे गौतम! (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः-हे गौतम ! जैसे एक दुर्बल आदमी बोझा उठा कर विकट मार्ग में चले जाने पर महान् पश्चाताप करता है। ऐसे ही जो नर अल्पज्ञों के द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तों को ग्रहण कर कुपंथ के पथिक होंगे। वे चौरासी की चक्र फेरी में जा पड़ेंगे। और वहां वे महान् कष्ट उठावेंगे। अतः पश्चाताप करने का मौका न आवे ऐसा कार्य करने में हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

तिण्णो हु सि अण्णवं महं;
किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पारं गमित्तए;
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २८ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (महं) बड़ा (अण्णवं) समुद्र (तिण्णो हु सि) मानो तू पार कर गया (पुण)

फिर (तीरमागओ) किनारे पर आया हुआ (किं) क्यों (चिट्ठसि) रुक रहा है। अतः (पारं) परले पार (गमित्तए) जाने के लिए (अभितुर) शीघ्रता कर, ऐसा करने में (गोयम !) हे गौतम ! (समयं)समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः--हे गौतम ! अपने आप को संसार रूप महान् समुद्र के पार गया हुआ समझकर फिर उस किनारे पर ही क्यों रुक रहा है। परले पार होने के लिए अर्थात् मुक्ति में जाने के लिए शीघ्रता कर। ऐसा करने में हे गौतम ! तू क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

अकलेवर सेणिमूसिया,
सिद्धिं गोयम ! लोयं गच्छसि ।
खेमं च सिवं अणुत्तरं;
समयं गोयम ! मा पमायए ॥ २६ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (अकलेवरसेणिं) कलेवर रहित होने में सहायक भूत श्रेणी को (ऊसिआ) बढ़ा कर अर्थात् प्राप्त कर (खेमं) पर चक्र का भय रहित (च) और (सिवं) उपद्रव रहित (अणुत्तरं) प्रधान (सिद्धिं) सिद्धि (लोयं) लोक को (गच्छसि) जाना ही है, फिर (गोयम !) हे गौतम ! (समयं) समय मात्र का (मा पमायए) प्रमाद मत कर।

भावार्थः--हे गौतम! सिद्ध पद पाने में जो शुभ अध्यवसाय रूप क्षपक श्रेणी सहायक भूत है, उसे पा कर एवं उ-

सरोत्तर उसे बढ़ाकर, भय एवं उपद्रव रहित अटल सुखों का जो स्थान है, वहीं तुझे जाना है। अतः हे गौतम ! धर्म आराधना करने में पल मात्र की भी ढील मत कर। इस प्रकार निर्ग्रन्थ की ये सम्पूर्ण शिक्षाएँ। प्रत्येक मानव-देह-धारी को अपने लिए भी समझनी चाहिए। और धर्म की आराधना करने में पल भर का भी प्रमाद कभी न करना चाहिए।

इति निर्ग्रन्थ प्रवचनस्य दशमोऽध्यायः

अध्याय ग्यारहवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

जा य सच्चा अवत्तव्वा; सच्चामोसा य जा मुसा।
जा य बुद्धेहिंऽणाइण्णा; न तं भासिज्ज पन्नवं ॥ १ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जा) जो (सच्चा) सत्य भाषा है, तदपि वह (अवत्तव्वा) नहीं बोलने योग्य (य) और (जा) जो (सच्चामोसा) कुछ सत्य कुछ असत्य ऐसी मिश्रित भाषा (य) और (मुसा) झूठ, इस प्रकार (जा) जिन भाषाओं को (बुद्धेहिं) तीर्थंकरों ने (अणाइण्णा) आदरने के योग्य नहीं कही (तं) उन भाषाओं को (पन्नवं) प्रज्ञावान् पुरुष (न भासिज्ज) कभी नहीं बोलते।

भावार्थः-हे गौतम ! सत्य भाषा होते हुए भी यदि सावद्य है तो वह बोलने के योग्य नहीं है, और कुछ सत्य कुछ असत्य ऐसी मिश्रित भाषा तथा बिलकुल असत्य ऐसी जो भाषाएँ हैं जिनका कि तीर्थंकरों ने बोलने के लिए निषेध किया है, ऐसी भाषा बुद्धिमान् मनुष्य को कभी नहीं बोलना चाहिये।

असच्चमोसं सच्चं च; अणवज्जमकक्कसं।
समुप्पेहमसंदिद्धं; गिरं भासिज्ज पन्नवं ॥ २ ॥

भावार्थः-हे इन्द्रभूति ! (असच्चमोसं) व्यावहारिक

भाषा (च) और (अणवज्ज) वध्य रहित (अकक्कसं) कर्कश रहित (असंदिद्धं) संदेह रहित (समुप्पेहं) विचार कर ऐसी (सच्चं) सत्य (गिरं) भाषा (पन्नवं) बुद्धि मानों को (भासिज्ज) बोलना चाहिए।

भावार्थः-हे गौतम ! सत्य भी नहीं, असत्य भी नहीं ऐसी व्यावहारिक भाषा जैसे वह गांव आ रहा है आदि और किसी को कष्ट न पहुँचे वैसी एवं कर्ण कठोरता तथा संदेह रहित ऐसी भाषा को भी बुद्धिमान् पुरुष समयानुसार विचार कर बोलते हैं।

तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी ।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा; जओ पावस्स आगमो।।३।

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (तहेव) वैसे ही (फरुसा) कठोर (गुरुभूओवघाइणी) अनेकों प्राणियों को नाश करने वाली (सच्चा वि) सत्य भी है तो (सा) वह भाषा (न) नहीं (वत्तव्वा) बोलने के योग्य है। क्योंकि (जओ) उस के बोलने से भी (पावस्स) पाप का (आगमो) आगमन होता है।

भावार्थः-हे गौतम ! जो मनुष्य कहलाते हैं उनके लिए कठोर एवं जिस से अनेकों प्राणियों की हिंसा हो, ऐसी सत्य भाषा भी बोलने योग्य नहीं होती है। यद्यपि वह सत्य भाषा है, तदपि वह हिंसा कारी भाषा है, उसके बोलने से पाप का आगमन होता है; जिस से आत्मा भारवान् बनती है।

तहेव काणं काणे त्ति, पंडगं पंडगे त्ति वा ।
वाहिअं वा वि रोगि त्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए।।४।।

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (तहेव) वैसे ही (काणं) काने को (काणे) काना है (त्ति) ऐसा (वा) अथवा (पंडगं) नपुंसक को (पंडगे) नपुंसक है (त्ति) ऐसा (वा) अथवा (वाहिअं) व्याधिवाले को (रोगि) रोगी है (त्ति) ऐसा और (तेणं) चोर को (चोरे) चोर है (त्ति) ऐसा (नो) नहीं (वए) बोलना चाहिए।

भावार्थः–हे गौतम ! जो मनुष्य कहलाते हैं वे काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, व्याधि वाले को रोगी और चोर को चोर, ऐसा कभी नहीं बोलते हैं। क्यों कि वैसा बोलने में भाषा भले ही सत्य हो, पर ऐसा बोलने में उनका दिल दुखता है। इसीलिए यह असत्य भाषा है, और इसे कभी न बोलना चाहिए।

देवाणं मणुयाणं च; तिरियाणं च वुग्गहे।
अमुगाणं जओ होउ; मा वा होउ त्ति नो वए ॥५॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (देवाणं) देवताओं के (च) और (मणुयाणं) मनुष्यों के (च) और (तिरियाणं) तिर्यंचों के (वुग्गहे) युद्ध में (अमुगाणं) अमुक की (जओ) जय (होउ) हो (वा) अथवा अमुक की (मा) मत (होउ) हो (त्ति) ऐसा (नो) नहीं (वए) बोलना चाहिए।

भावार्थः–हे गौतम ! देवता मनुष्य और तिर्यंचों में जो परस्पर युद्ध हो रहा हो उस में भी अमुक की जय हो अथवा अमुक की पराजय हो, ऐसा कभी नहीं बोलना चाहिए। क्योंकि एक की जय और दूसरे की पराजय बोलने से एक मरूश होता है और दूसरा नाराज़ होता है। और जो बुद्धि-

मान् मनुष्य, ज्ञानी जब जो होते हैं वे किसी को नाराज़ नहीं करते हैं।

तहेव सावज्जणुमोयणी गिरा;
ओहारिणी जा य परोवघाइणी।
से कोह लोह भय व माणवो;
न हासमाणो वि गिरं वएज्जा ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (माणवो) मनुष्य (हासमाणो) हँसता हुआ (वि) भी (गिरं) भाषा को (न) न (वएज्जा) बोले (य) और (तहेव) वैसे ही (से) वह (कोह) क्रोध से (लोह) लोभ से (भय) भय से (सावज्जणुमोयणी) सावद्य अनुमोदन के साथ (ओहारिणी) निश्चित और (परोवघाइणी) दूसरे जीवों को नाश करने वाली, ऐसी (जा) जो (गिरा) भाषा है उस को न बोले।

भावार्थः-हे गौतम! बुद्धिमान् मनुष्य वह है जो हक हक हँसता हुआ भी कभी नहीं बोलता है और इसी तरह सावद्य भाषा का अनुमोदन करके तथा निश्चयकारी और दूसरे जीवों को नाश करने वाली भाषा कभी नहीं बोलता है।

अपुच्छिओ न भासेज्जा;
भासमाणस्स अंतरा।
पिट्ठिमंसं न खाएज्जा;
मायामोसं विवज्जए ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति! बुद्धिमान मनुष्यों को (भा-

समाणस्स) बोलते हुए के (अन्तरा) बीच में (अपुच्छिओ) नहीं पूछने पर (न) नहीं (भासिज्ज) बोलना चाहिए और (पिट्ठिमंसं) परोक्ष के अवगुणों को भी(न)नहीं (खाएज्जा) कहना चाहिए। एवं (मायामोसं) कपट युक्त असत्य बोलना (विवज्जए) छोड़ना चाहिए।

भावार्थः--हे गौतम ! बुद्धिमान् वह है, जो दूसरे बोल रहे हों उन के बीच में उन के पूछे बिना न बोले और जो उन के परोक्ष में उन के अवगुणों को भी कभी न बोलता हो, तथा जिसने कपट युक्त असत्य भाषा को भी सदा के लिए छोड़ रक्खा हो।

सक्का सहेउं आसाइ कंटया;
अओमया उच्छहया नरेणं।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए;
वईमए कण्णसरे स पुज्जो ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (उच्छहया) उत्साही (नरेणं) मनुष्य (आसाइ) आशा से (अओमया) लोह-मय (कंटया) कंटक या तीर (सहेउ) सहने को (सक्का) समर्थ है। परन्तु (कण्णसरे) कान के छिद्रों में प्रवेश करने वाले (कंटए) काँटे के समान (वईमए) वचनों को (अणासए) बिना आशा से (जो) जो (सहेज्ज) सहन करता है (स) वह (पुज्जो) श्रेष्ठ है।

भावार्थः-हे गौतम ! उत्साह पूर्वक मनुष्य अर्थ-प्राप्ति की आशा से लोह खण्ड के तीर और काँटों तक को

पीड़ा को खुशी खुशी सहन कर जाते हैं। परन्तु उन्हें वचन रूपी कण्टक सहन होना बड़ाही कठिन मालूम होता है। तो फिर आशा रहित हो कर कठिन वचन सुनना तो बहुत ही दुष्कर है। परन्तु बिना किसी भी प्रकार की आशा के, कानों के छिद्रों द्वारा कण्टक के समान वचनों को सुन कर सह लेता है, बस, उसी को श्रेष्ठ मनुष्य समझना चाहिए।

मुहुत्तदुक्खाउ हवंति कंटया;
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि;
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति! (अओमया) लोह निर्मित (कंटया) काँटों से (उ) तो (मुहुत्तदुक्खा) मुहूर्त्त मात्र दुख (हवंति) होता है (ते वि) वह भी (तओ) उस शरीर से (सुउद्धरा) सुख पूर्वक निकल सकता है। परन्तु (वेराणुबंधीणि) वैर को बढ़ाने वाले और (महब्भयाणि) महाभय को उत्पन्न करने वाले (वायादुरुत्ताणि) कहे हुए कठिन वचनों का (दुरुद्धराणि) हृदय से निकलना मुश्किल है।

भावार्थः–हे गौतम! लोह निर्मित कण्टक–तीर से तो कुछ समय तक ही दुःख होता है, और वह भी शरीर से अच्छी तरह निकाला जा सकता है। किन्तु कहे हुए तीक्ष्ण मार्मिक वचन वैर को बढ़ाते हुए नरकादि दुखों को प्राप्त कराते हैं। और जीवन पर्यन्त उन कटु वचनों का हृदय से निकलना महान् कठिन है।

अवराणवायं च परंमुहस्स;
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च;
भासं न भासेज्ज सया स पुज्जो ॥ १० ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (परंमुहस्स) उस मनुष्य के बिना मौजूदगी में (च) और (पच्चक्खओ) उसके प्रत्यक्ष रूप में (अवराणवायं) अवर्णवाद (भासं) भाषा को (सया) हमेशा (न) नहीं (भासेज्ज) बोलना चाहिए (च) और (पडिणीयं) अपकारी (ओहारिणिं) निश्चयकारी (अप्पिय-कारिणिं) अप्रियकारी (भासं) भाषा को भी हमेशा नहीं बोलता हो (स) वह (पुज्जो) पूजनीय मानव है।

भावार्थः- हे गौतम ! जो प्रत्यक्ष या परोक्ष में अवगुण वाद के वचन कभी भी नहीं बोलता हो। जैसे तू चोर है। पुरुषार्थी पुरुष को कहना कि तू नपुंसक है। ऐसी भाषा, तथा अप्रियकारी अपकारी, निश्चयकारी भाषा जो कभी नहीं बोलता हो, वह पूजनीय मानव है।

जहा सुणी पूइकण्णी; निक्कसिज्जइ सव्वसो।
एवं दुस्सिलपडिणीए; मुहरी निक्कसिज्जइ ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (पूइकण्णी) सड़े कान वाली (सुणी) कुत्तिया को (सव्वसो) सब जगह से (निक्कसिज्जइ) निकालते हैं। (एवं) इसी प्रकार (दुस्सिल) खराब आचरण वाले (पडिणीए) गुरु और धर्म

से द्वेष करने वाले और (मुहरी) मुख से अरि जैसे वचन बोलने वाले को (निक्कसिज्जइ) कुल में से बाहर निकाल देते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! सड़े कानवाली कुत्तिया को सब जगह धुत्कार मिलता है, और वह हर जगह से निकाली जाती है। इसी तरह दुराचारियों एवं धर्म से द्वेष करने वालों और मुँह से कटुवचन बोलने वालों को सब जगह से धुत्कार मिलता है। और वह वहां से निकाल दिया जाता है।

कणकुंडगं चइत्ताणं; विट्ठं भुंजइ सूयरे।
एवं सीलं चइत्ताणं; दुस्सीले रमई मिए ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! जैसे (सूयरे) शूकर (कणकुंडगं) धान के कूँडे को (चइत्ताणं) छोड़ कर (विट्ठं) विष्टे ही को (भुंजइ) खाता है, (एवं) इसी तरह (मिए) मृग के समान मूर्ख मनुष्य (सीलं) अच्छी प्रवृत्ति को (चइत्ताणं) छोड़ कर (दुस्सीले) खराब प्रवृत्ति ही में (रमई) आनंद मानता है।

भावार्थः-हे गौतम ! जिस प्रकार सुअर धान्य के भाजन को छोड़ कर विष्टे ही को खाता है, इसी तरह मूर्ख मनुष्य सदाचार-सेवन और मधुर भाषण आदि अच्छी प्रवृत्ति को छोड़ कर दुराचार सेवन करने तथा कटुभाषण करने ही में आनंद मानता रहता है, परन्तु वह मूर्ख मनुष्य इस प्रवृत्ति से अनंत काल तक बड़ा पश्चाताप करता रहता है।

आहच्च चंडालियं कट्टु;
न निएहविज्ज कयाइ वि।
कडं कडेत्ति भासेज्जा;
अकडं णो कडेत्ति य ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ.-हे इन्द्रभूति (आहच्च) कदाचित् (चंडालियं) क्रोध से झूठ भाषण हो गया हो तो झूठ भाषण (कट्टु) करके उसको (कयाइ) कभी (वि) भी (न) न (निएहविज्ज) छिपाना चाहिए (कडं) किया हो तो (कडेत्ति) किया है ऐसा (भासेज्जा) बोलना चाहिए (य) और (अकडं) नहीं किया हो तो (णो) नहीं (कडेत्ति) किया ऐसा बोलना चाहिए।

भावार्थः-हे गौतम ! कभी किसी से क्रोध के आवेश में आकर झूठ भाषण हो गया हो तो उस का प्रायश्चित करने के लिए उसे कभी भी नहीं छिपाना चाहिए। कटु भाषण किया हो तो उसकी स्वीकृति कर लेना चाहिए कि हां मुझ से हो तो गया है। और नहीं किया हो तो ऐसा कह देना चाहिए कि मैंने नहीं किया है।

पडिणीयं च बुद्धाणं; वाया अदुव कम्मुणा।
आवी वा जइ वा रहस्से; णेव कुज्जा कयाइ वि॥१४॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (बुद्धाणं) तत्वज्ञ (च) और सभी साधारण मनुष्यों से (पडिणीयं) शत्रुता (वाया) वचन द्वारा और (अदुव) काया द्वारा (आवीवा) मनुष्यों के देखते कपट रूप में (जइ वा) अथवा (रहस्से) एकान्त में (कयाइ वि) कभी भी (णेव) नहीं (कुज्जा) करना चाहिए।

भावार्थः-हे गौतम! क्या तो तत्वज्ञ और क्या साधारण सभी मनुष्यों के साथ कटु वचनों से तथा शरीर द्वारा प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप में कभी भी शत्रुता करना बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती।

जणवय सम्मयठवणा य नामे रूवे पडुच्च सच्चे य।
ववहार भावे जोगे; दसमे ओवम सच्चेय ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जणवय) अपने अपने देशीय (य) और (सम्मयट्ठवणा) एकमत की स्थापना की (नामे) नाम की (रूवे) रूप की (पडुच्च सच्चे) अपेक्षा से कही हुई (य) और (ववहार) व्यावहारिक (भावे) भाव ली हुई (जोगे) लोक कहे (य) और (दसमे) दशवीं (ओवम) औपमिक भाषा (सच्चे) सत्य है।

भावार्थः-हे गौतम! जिस देश में जो भाषा बोली जाती हो, जिस में अनेकों का एक मत हो, जैसे कर्दम से और भी वस्तु पैदा होती है, पर कमल ही को पंकज कहते हैं। जिस में एकमत है। नापने के गज और तोलने के बाट वगैरह को जितना लम्बा और जितना वज़न में लोगों ने मिल कर स्थापन कर रक्खा हो। गुण सहित या गुण शून्य जिसका जैसा नाम हो, वैसा उच्चारण करने में, जिसका जैसा वेष हो उसके अनुसार कहने में, और अपेक्षा से, जैसे एक की अपेक्षा से पुत्र और दूसरे की अपेक्षा से पिता उच्चारण करने में जो भाषा का प्रयोग होता है, वह सत्य भाषा है। और ईंधन के जलने पर भी चुल्हा जल रहा है, ऐसा व्यावहारिक उच्चारण एवं तोते में पाँचों वर्णों के होते हुए भी "हरा" ऐसा भावमय वचन

और अमुक सेठ क्रोड़पति है फिर भले दो चार हजार अधिक हो या कमी हो, उसको क्रोड़पति कहने में। एवं दशवीं उपमा में जिन वाक्यों का उच्चारण होता है, वह सत्य भाषा है। यों दस प्रकार की भाषाओं को ज्ञानी जनों ने सत्य भाषा कही है।

कोहे माणे माया लोभे;
पेज्ज तहेव दोसे य ।
हासे भए अक्खाइ य;
उवघाइ य निस्सिया दसमा ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (कोहे) क्रोध (माणे) मान (माया) कपट (लोभे) लोभ (पेज्ज) राग(तहेव) वैसे ही (दोसे) द्वेष (य) और (हासे) हँसी (य) और (भए) भय (य) और (अक्खाइ) कल्पित व्याख्या (दसमा) दशवीं (उवघाइ) उपघात के (निस्सिया) आश्रित कही हुई भाषा असत्य है।

भावार्थः-हे गौतम ! क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, हास्य, भय, कल्पनिक व्याख्या और दशवीं उपघात के आश्रित जिस भाषा का प्रयोग किया गया हो, वह निरी असत्य भाषा है। इस प्रकार की भाषा बोलने से आत्मा की अधोगति होती है।

इणमन्नं तु अन्नाणं, इह मेगेसि माहियं ।
देवउत्ते अयं लोए; बंभउत्ते ति आवरे ॥ १७ ॥
इसरेण कडे लोए; पहाणाइ तहावरे ।
जीवा जीव समाउत्ते; सुहदुक्ख समन्निए ॥ १८ ॥

सयंभुणा कडे लोए; इति वुत्तं महेसिणा।
मारेण संथुया माया; तेण लोए असासए॥ १९॥
माहणा समणा एगे; आह अंडकडे जगे।
असो तत्तमकासीय; अयणंता मुसं वदे॥ २०॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (इह) इस संसार में (मेगेसि) कई एक (मसं) अन्य (अन्नाणं) अज्ञानी (इण) इस प्रकार (माहियं) कहते हैं, कि (अयं) इस (जीवा-जीव समाउत्ते) जीव और अजीव पदार्थ के साथ एवं (सुह-दुक्खसमन्निए) सुख और दुखों से युक्त ऐसा (लोए) लोक (देवउत्ते) देवताओं ने बनाया है (आवरे) और दूसरे यों कहते हैं कि (बंभउत्तेत्ति) ब्रह्मा ने बनाया है। कोई कहते हैं कि (लोए) लोक (इसरेण) ईश्वर ने (कडे) बनाया है। (तहावरे) तथा दूसरे यों कहते हैं, कि (पहाणाइ)प्रकृति ने बनाया है। तथा नियति ने बनाया है। कोई बोलते हैं, कि (लोए) लोक (सयंभुणा) विष्णु ने (कडे) बनाया है। फिर मार "मृत्यु" बनाई। (मारेण) मृत्यु से (माया) माया (संथुया) पैदा की (तेण) इसी से (लोए) लोक (असासए) अशाश्वत है। (इति) ऐसा (महेसिणा) महर्षियों ने (वुत्तं) कहा है। और (एगे) कई एक (माहणा) ब्राह्मण (समणा) संन्यासी (जगे) जगत् (अंडकडे) अण्डे से उत्पन्न हुआ ऐसा (आह) कहते हैं। इस प्रकार (असो) ब्रह्मा ने (तत्तमकासीय) तत्त्व बनाया ऐसा कहने वाले (अयाणंता) तत्त्व को नहीं जानते हुए (मुसं) झूठ (वदे)वे कहते हैं।

भावार्थः--हे गौतम! इस संसार में ऐसे भी लोग हैं, जो कहते हैं, कि जड़ और चेतन से भरा हुआ एवं सुख दुख युक्त जो यह लोक है, इस की इस प्रकार की रचना देवताओं ने की है। कोई कहते हैं कि ब्रह्मा ने सृष्टि बनायी है। कोई ऐसा भी कहते हैं, कि ईश्वर ने जगत् की रचना की है। कोई यों बोलते हैं, कि सत्व, रज, तम, गुण की सम अवस्था को प्रकृति कहते हैं। उस प्रकृति ने इस संसार की रचना की है। कोई यों भी मानते हैं, कि जिस प्रकार काँटे तीखे, मयूर के पंख विचित्र रंगवाले, गन्ने में मिठास, लहसुन में दुर्गंध, कमल सुगंधमय स्वभाव से ही होते हैं; ऐसे ही सृष्टि की रचना भी स्वभाव से ही होती है। कोई इस प्रकार कहते हैं, कि इस लोक की रचना में स्वयंभू विष्णु अकेले थे। फिर सृष्टि रचने की चिन्ता हुई जिस से शक्ति पैदा हुई। तदनंतर सारा ब्रह्माण्ड रचा और इतनी विस्तार वाली सृष्टि की रचना होने पर यह विचार हुआ कि इस का समावेश कहां होगा? इस लिए जन्मे हुओं को मारने के लिए यम बनाया। उसने फिर माया को जन्म दिया। कोई यों कहते हैं, कि पहले ब्रह्मा ने अण्डा बनाया। फिर वह फूट गया। जिसके आधे का ऊर्ध्व लोक और आधे का अधोलोक बन गया और उस में उसी समय समुद्र, नदी पहाड़, गांव आदि सभी की रचना हो गयी। इस तरह सृष्टि को बनायी। ऐसा उनका कहना, हे गौतम! सत्य से पृथक् है।

सएहिं परियाएहिं, लोयं बूया कडेति य।
तत्तं ते ण विजाणंति; ण विणासी कयाइ वि ॥२१॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति! जो (सएहिं) अपनी अपनी (परियाएहिं) पर्याय कल्पना करके (लोयं) लोक को अमुक

अमुक ने (कडे सि) बनाया है, ऐसा (बूया) बोलते हैं। (ते) वे (तत्तं) यथातथ्य तत्व को (ण) नहीं (विजाणंति) जानते हैं। क्यों कि (कयाइ वि) कभी भी (विणासी) लोक नाशमान् (ण) नहीं है।

भावार्थः-हे गौतम ! जो लोग यह कहते हैं, कि इस सृष्टि को ईश्वरने, देवताओं ने, ब्रह्मा ने तथा स्वयंभू ने बनायी है, उनका यह कहना अपनी अपनी कल्पना मात्र है वास्तव में यथातथ्य बात को वे जानते ही नहीं हैं। क्यों कि यह लोक सदा अविनाशी है। न तो इस सृष्टि के बनने की आदि ही है और न अन्त ही है। हां, कालानुसार न्यूनाधिक हो जाता है परन्तु सम्पूर्ण रूप से सृष्टि का नाश कभी नहीं होता है।

॥ इति निर्ग्रंथ प्रवचनस्यैकादशोऽध्यायः ॥

अध्याय बारहवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

किण्हा नीला य काऊय; तेऊ पम्हा तहेव य ।
सुक्क लेसा य छट्ठाय; नामाइं तु जहक्कमं ॥ १ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (किण्हा) कृष्ण (य) और (नीला) नील (य) और (काऊ) कापोत (य) और (तेऊ) तेजो (तहेव) वैसे ही (पम्हा) पद्म (य) और (छट्ठा) छट्ठी (सुक्कलेसा) शुक्ल लेश्या (नामाइं) ये नाम (जहक्कम्मे) यथा क्रम जानो।

भावार्थः--हे आर्य ! पुण्य पाप करते समय आत्मा के जैसे परिणाम होते हैं उसे यहां लेश्या के नाम से पुकारेंगे । वह लेश्या छः भागों में विभक्त है उनके यथा क्रम से नाम यों हैं। (१) कृष्ण (२) नील (३) कापोत (४) तेजु (५) पद्म और (६) शुक्ल लेश्या। हे गौतम ! कृष्ण लेश्या का स्वरूप यों हैं:—

---

(१) कृष्ण लेश्या वाले की भावना यों होती है कि अमुक को मार डालो, काट डालो, सत्यानाश करदो आदि आदि । (२) नील लेश्या के परिणाम वे हैं जो कि दूसरे के प्रति हाथ, पैर तोड़ डालने के हों (३) कापोत लेश्या भावना उन मनुष्यों के है जो कि नाक, कान, अङ्गुलिएं आदि को कष्ट

पञ्चासवप्पवत्तो; तीहिं अगुत्तो छसु अविरओ य ।
तिव्वारंभपरिणओ; खुद्दो साहस्सिओ नरो ॥ २ ॥
निद्धंधसपरिणामो; निस्संसो अजिइंदिओ ।
एअजोगसमाउत्तो; किण्हलेसं तु परिणमे ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (पंचासवप्पवत्तो) हिंसादि पाँच आश्रवों में प्रवृत्ति कराने वाले (तीहिं) मनसा, वाचा, और कर्मणा इन तीनो योगों से (अविरओ) निवृत्त नहीं है जो (तिव्वारंभपरिणओ) तीव्र है आरंभ करने के परिणाम जिनके एवं (खुद्दो) क्षुद्र बुद्धि वाले, (साहस्सिओ) अकार्य करने में साहसिक (निद्धंधसपरिणामो) नष्ट करने वाले हिताहित के परिणामको और (निस्संसो) निशंक रूप से पाप करने वाले (अजिइंदिओ) इन्द्रियों के वशवर्ती हो कर पापाचरण करने वाले (एअजोगसमाउत्तो) इस प्रकार के आचरणों से युक्त हैं जो (नरो) मनुष्य, वे (किण्हलेसं) कृष्ण लेश्या के (परिणमे) परिणाम वाले होते हैं ।

भावार्थः-हे गौतम ! जिसकी प्रवृत्ति हिंसा, झूठ, चोरी व्यभिचार और ममता में अधिकतर फँसी हुई हो, एवं मन-

---

पहुँचाने में तत्पर हो । (४) तेजो लेश्या के भाव वह है जो दूसरे को लात, घूसा, मुक्का आदि से कष्ट पहुँचाने में अपनी बुद्धिमत्ता समझता हो (५) पद्मलेश्या वाले की भावना इस प्रकार होती है कि कठोर शब्दों की बौछार करने में आनन्द मानता हो । (६) शुक्ललेश्या के परिणाम वाला अपराध करने वाले के प्रति भी मधुर शब्दों का प्रयोग करता है ।

द्वारा जो हर एक का बुरा चिंतवन करता हो, जो कटु और मर्म भाषी हो, जो प्रत्येक के साथ कपट का व्यवहार करने वाला हो, जो बिना प्रयोजन के भी पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस काय के जीवों की हिंसा से निवृत्त न हुआ हो, बहुत जीवों की हिंसा हो ऐसे महारंभ के कार्य करने में तीव्र भावना रखता हो, हमेशा जिसकी बुद्धि तुच्छ रहती हो, अकार्य करने में बिना किसी प्रकार की हिचकिचाहट जो साहसिकता रखता हो, निसंकोच भावों से पापाचरण करने में जो रत हो, इन्द्रियों को प्रसन्न रखने में अनेक दुष्कार्य जो करता हो, ऐसे मार्गों में जिस किसी भी आत्मा की प्रवृत्ति हो वह आत्मा कृष्ण लेश्यावाली है। ऐसी लेश्या वाला फिर चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, मर कर नीची गति में जावेगा। हे गौतम ! नील लेश्या का वर्णन यों है।

इस्सा अमरिस अतवो; अविज्ज माया अहीरिया।
गेही पओसे य सढे; पमत्ते रसलोलुए ॥ ४ ॥
साय गवेसए य आरंभा अविरओ;
खुद्दो साहस्सिओ नरो।
एअ जोगसमाउत्तो;
नीललेसं तु परिणमे ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (इस्सा) ईर्ष्या (अमरिस) अत्यन्त क्रोध, (अतवो) अतप (अविज्ज) कुशास्त्र पठन (माया) कपट (अहीरिया) पापाचार के सेवन करने में निर्लज्जा (गेही) गृद्धपन (य) और (पओसे) द्वेषभाव (सढे) धर्म में मंद स्वभाव (पमत्ते) मदोन्मत्तता (रस-

लोलुए) रसलोलुपता (सायगवेसए) पौद्गलिक सुख की अन्वेषणा (अ) और (आरंभा) हिंसादि आरंभ से (अविरओ) अनिवृत्ति । (खुद्दो) क्षुद्रभावना (साहस्सिओ) अकार्य में साहसिकत्ता (एअजोगसमाउत्तो) इस प्रकार के आचरणों करके युक्त (नरो) जो मनुष्य हैं, वे (नीललेसं) नील लेश्या को (परिणमे) परिणामित्त होते है ।

भावार्थः—हे गौतम ! जो दूसरों के गुणों को सहन न करके रातदिन उनसे इर्ष्या करने वाला हो, बात बात में जो क्रोध करता हो । खा पी कर जो सण्ड मुसण्ड बना रहता हो, पर कभी भी तपस्या न करता हो, जिनसे अपने जन्म मरण की वृद्धि हो ऐसे कुशास्त्रों का पठन पाठन करने वाला जो हो, कपट करने में किसी भी प्रकार की कोर कसर जो न रखता हो, जो भली बात कहने वाले के साथ द्वेष भाव रखता हो, धर्म कार्य में शिथिलता जो दिखाता हो, हिंसादि महारंभ से जो तनिक भी अपने मनको खींचता न हो, दूसरों के अनेकों गुणों की तरफ दृष्टि पात तक न करते हुए उस में जो एक आध अवगुण हो उसी की ओर जो निहारने वाला हो, और अकार्य करने में बड़ी बहादुरी दिखाने वाला जो हो, जिस आत्मा के ऐसे व्यवहार हो, उसे नीललेशी कहते हैं । इस तरह की भावना रखने वाला व उस में प्रवृत्ति करने वाला, चाहे कोई पुरुष हो या स्त्री वह मर कर अधोगति ही में जावेंगे ।

वंके वंकसमायरे; नियडिल्ले अणुज्जुए ।
पलिउंचग ओवहिए; मिच्छदिट्ठी अणारिए ॥ ६ ॥
उप्फालग दुट्ठवाई य; तेणे आवि य मच्छरी ।
एअ जोगसमाउत्तो; काऊ लेसं तु परिणमे ॥७॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (वंके) वक्र भाषण करना (वंकसमायरे) वक्र वक्र क्रिया अंगीकार करना, (नियडिल्ले) मन में कपट रखना, (अणुज्जुए) टेढ़ेपन से रहना (पलिउंचग) स्वकीय दोषों को ढँकना, (ओवहिए) सब कामों में कपटता (मिच्छदिट्ठी) मिथ्यात्व में अभिरूचि रखना (अणारिए) अनार्यता से प्रवृत्ति करना (य) और (तेणे) चोरी करना (अविमच्छरी) फिर मात्सर्य रखना (एअ-जोगसमाउत्तो) इस प्रकार के व्यवहारों से जो युक्त हो वह (काऊलेसं) कापोत लेश्या को (परिणमे) परिणामित होता है।

भावार्थः-हे गौतम ! जो बोलने में सीधा न बोलता हो, व्यापार भी जिसका टेढ़ा हो दूसरे को न जान पड़े ऐसे मानसिक कपट से अपना व्यवहार जो करता हो, सरलता जिसके दिल को छुकर भी ना निकली हो, अपने दोषों को ढँकने की भरपूर चेष्टा जो करता हो; जिस के दिन भर के सारे कार्य छल कपट से भरे पड़े हों, जिसके मन में मिथ्यात्व की अभिरूचि सदैव बनी रहती हो, जो अमानुषिक कामों को भी कर बैठता हो, जो वचन ऐसे बोलता हो, कि जिस से प्राणि मात्र को त्रास होती हो, दूसरों की वस्तु को चुराने में ही अपने मानव जन्म की सफलता समझता हो, मात्सर्य तो जिसके रग रग में भरी हो, इस प्रकार के व्यवहारों में जिस आत्मा की प्रवृत्ति हो, वह कापोत लेशी कहलाता है। ऐसी भावना रखने वाला चाहे पुरुष हो या स्त्री, वह मर कर अवश्यमेव अधोगति में जावेगा। हे गौतम ! तेजो लेश्या के सबन्ध में यों हैं।

नीयाविसी अचवले; अमाई अकुऊहले।
विणीयविणए दंते; जोगवं उवहाणवं ॥ ८ ॥
पियधम्मे दढधम्मेऽवज्जभीरू हिएसए।
एय जोगसमाउत्तो; तेऊलेसं तु परिणमे ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (नीयावित्ती) जिस की वृत्ति नम्र स्वभाव वाली हो (अचवले) अचपल (अमाई) निष्कपट (अकुऊहले) कुतूहल से रहित (विणीय विणए) अपने बड़ों का विनय करने में विनीत वृत्तिवाला (दंते) इन्द्रियों को दमन करने वाला (जोगवं) शुभ योगों को लाने वाला (उवहाणवं) शास्त्रीय विधिसे तप करने वाला (पियधम्मे) जिसकी धर्म में प्रीति हो, (दढधम्मे) दृढ़ है मन धर्म में जिसका (अवज्जभीरू) पाप से डरनेवाला (हिएसए) हितको ढूँढने वाला, इस प्रकार का आचरण है, जिसका वह मनुष्य (तेऊलेसं) तेजो लेश्या को (तु परिणमे) परिणमेत होता है।

भावार्थः–हे आर्य ! जिसकी प्रकृति बड़ी मृदु है, जो स्थिर बुद्धिवाला है, जो निष्कपट है, हंसी मज़ाक करने का जिसका स्वभाव ही नहीं है, अपने बड़ों का विनय कर जिसने विनीत की उपाधि प्राप्त करली है, जो जितेन्द्रिय है, मानसिक, वाचिक, और कायिक इन तीनों योगों के द्वारा जो कभी किसी का अहित न चाहता हो, शास्त्रीय विधि विधान युत् तपस्या करने में दत्त चित्त जो रहता हो, धर्म में सदैव प्रेम भाव रखता है, चाहे उस पर प्राणान्त कष्ट ही क्यों न आजावे, पर धर्म में जो दृढ़ रहता है, किसी जीव को कष्ट न पहुँचे, ऐसी भाषा जो बोलता हो, और हितकारी मोक्ष धाम को जाने के

लिए शुद्ध क्रिया करने की गवेषणा जो करता रहता हो, वह तेजो लेशी कहलाता है। जो जीव इस प्रकार की भावना रखता हो वह मर कर ऊर्ध्वगति अर्थात् परलोक में उत्तम स्थान को प्राप्त होता है। हे गौतम ! पद्मलेश्या का वर्णन यों है:-

पयणुक्कोहमाणे य; माया लोभे य पयणुए।
पसंतचित्ते दंतप्पा; जोगवं उवहाणवं ॥ १० ॥
तहा पयणुवाई य; उवसंते जिइंदिए।
एय जोगसमाउत्तो; पम्हलेसं तु परिणमे ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (पयणुक्कोहमाणे) पतले हैं क्रोध और मान जिसके (अ) और (मायालोभे) माया तथा लोभ भी जिसके (पयणुए) अल्प हैं, (पसंतचित्ते) प्रशान्त है चित जिसका (दंतप्पा) जो आत्मा को दमन करता है, (जोगवं) जो मन, वच, काया के शुभ योगों को प्रवृत्त करता है, (उवहाणवं) जो शास्त्रीय तप करता है, (तहा) तथा (पयणुवाई) जो अल्प भाषी है, और वह भी सोच विचार कर बोलता है, (य) और (उवसंते) शान्त है आकार प्रकार जिसका, (य) और (जिइंदिए) जो इन्द्रियों को जीतता हो, (एय जोगसमाउत्तो) इस प्रकार की प्रवृत्ति वाला जो मनुष्य हो, वह (पम्हलेसं) पद्म लेश्या को (तु परिणमे) परिणामित होता है।

भावार्थः-हे गौतम ! जिसको क्रोध, मान, माया, लोभ कम हैं, जो सदैव शान्त चित्त से रहता है, आत्मा का जो दमन करता है, मन वचन काया के शुभ योगों में जो अपनी प्रवृति करता है, शास्त्रीय विधि का उपधान तप करता है, सोच विचार कर जो मधुर भाषण करता है, जो शरीर के

अङ्गोपाङ्गों को शांत रखता है। इन्द्रियों को हरसमय जो काबू में रखता है, वह पद्मलेशी कहलाता है। इस प्रकार की भावना का एवं प्रवृत्ति का जो मनुष्य अनुशीलन करता है, वह मनुष्य मर कर ऊर्ध्वगति में जाता है। हे गौतम! शुक्ल लेश्या का कथन यों है।

अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता; धम्मसुक्काणि झायए।
पसंतचित्ते दंतप्पा; समिए गुत्ते य गुत्तिसु ॥ १२ ॥
सरागो वीयरागो वा, उवसंते जिइंदिए।
एय जोगसमाउत्तो; सुक्कलेसं तु परिणमे ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (अट्टरुद्दाणि) आर्त और रौद्र ध्यानों को (वज्जित्ता) छोड़ कर (धम्मसुक्काणि) धर्म और शुक्ल ध्यानों को (झायए) जो चिंतवन करता हो, (पसंतचित्ते) प्रशान्त है चित जिसका (दंतप्पा) दमन की है अपनी आत्मा को जिसने (समिए) जो पाँच समिति करके युक्त हो, (य) और (गुत्तिसु) तीन गुप्ति में (गुत्ते) गोपी है अपनी आत्मा को जिसने (सरागो) जो सराग (वा) अथवा (वीयरागो) वीतराग संयम रखता हो, (उवसंते) शांत हैं अंगोपाङ्ग जिसके, और (जिइंदिए) जो जीतेन्द्रिय है, (एय जोगसमाउत्तो) ऐसे आचरणों से जो युक्त है, वह मनुष्य (सुक्कलेसं) शुक्ललेश्या को (तु परिणमे) परिणमित होता है।

भावार्थः-हे आर्य! जो आर्त और रौद्र ध्यानों का परित्याग करके सदैव धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान का चिन्तवन करता है, क्रोध, मान, माया, और लोभ आदि के शान्त होने से प्रशान्त हो रहा है चित जिसका, सम्यक् ज्ञान दर्शन

एवं चारित्र से जिसने अपनी आत्मा को दमन कर रक्खी है, चलने, बैठने, खाने, पीने, आदि सभी व्यवहारों में संयम रखता है, मन, वचन, काया की अशुभ प्रवृति से जिसने अपनी आत्मा को गोपी है, सराग यद्वा वीतराग संयम जो रखता है, जिसके मुख का आकार प्रकार शान्त है, इन्द्रिय जन्य विषयों को विष समझकर उन्हें छोड़ जिसने रक्खे हैं, वही आत्मा शुक्ल लेशी है। यदि इस अवस्था में मनुष्य मरता है तो वह ऊर्ध्वगति को प्राप्त करता है।

किरहा नीला काऊ तिरिण वि;एयाओ अहम लेसाओ।
एयाहिं तिहिं वि जीवो; दुग्गइं उववज्जई ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (किरहा) कृष्ण (नीला) नील (काऊ) कापोत (एयाओ) ये (तिरिण) तीनों (वि) ही (अहमलेसाओ) अधम लेश्याएँ हैं। (एयाहिं) इन (तिहिं) तीनों (वि) ही लेश्याओं से (जीवो) जीव (दुग्गइं) दुर्गति को (उववज्जई) प्राप्त करता है।

भावार्थः—हे गौतम ! कृष्ण, नील, और कापोत, इन तीनों को ज्ञानी जनों ने अधर्म लेश्याएँ (अधर्मभावनाएँ) कही हैं। इस प्रकार की अधर्म भावनाओं से जीव दुर्गति में जाकर महान् कष्टों को भोगता है। अतः ऐसी बुरी भावनाओं को कभी भी हृदयंगम न होने देना, यही श्रेष्ट मार्ग है।

तेऊ पम्हा सुक्का; तिरिण वि एयाओ धम्मलेसाओ।
एयाहिं तिहिं वि जीवो; सुग्गइं उववज्जइ ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (तेऊ) तेजो (पम्हा) पद्म

और (सुक्का) शुक्ल (एयाओ) ये (तिन्निवि) तीनों (वि) ही (धम्म लेसाओ) धर्म लेश्याएँ हैं । (एयाहिं) इन (तिहिं) तीनों (वि) ही लेश्याओं से (जीवो) जीव (सुग्गइं) सुगति को (उववज्जइ) प्राप्त करता है ।

भावार्थः-हे आर्य ! तेजो, पद्म, और शुक्ल, ये तीनों, ज्ञानी जन द्वारा धर्म लेश्याएँ (धर्म भावनाएँ) कही गयी हैं । इस प्रकार धर्म भावना रखने से वह जीव यहाँ भी प्रशंसा का पात्र होता है, और मरने के पश्चात् भी वह सुगति ही में जाता है, जहाँ कि उसके लिए योग्य स्थान होता है । अतएव मनुष्य को चाहिए, कि वे अपनी भावनाओं को सदा शुद्ध रक्खें । जिससे उस आत्मा को मोक्ष धाम मिलने में विलम्ब न हो ।

अन्तमुहुत्तम्मि गए; अंतमुहुत्तम्मि सेसए चेव ।
लेसाहिं परिणयाहिं; जीवा गच्छंति परलोयं ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (परिणयाहिं) परिणमित हो गयी है (लेसाहिं) लेश्या जिसके ऐसा (जीवा) जीव (अंतमुहुत्तम्मि) अन्तर्मुहूर्त्त (गए) होने पर (चेव) और (अंतमुहुत्तम्मि) अन्तर्मुहूर्त्त (सेसए) अवशेष रहने पर (परलोयं) परलोक को (गच्छंति) जाते हैं ।

भावार्थः-हे आर्य ! मनुष्य और तिर्यञ्चों के अन्तिम समय में, योग्य वा अयोग्य, जिस किसी भी स्थान पर उन्हें जाना होता है उसी स्थान के अनुसार उसकी भावना मरने के अन्तर्मुहूर्त्त पहले आती है । और वह भावना उसने अपने जीवन में भले और बुरे कार्य किये होंगे उसी के अनुसार

अन्तिम समय में वैसी ही लेश्या (भावना) उसकी होगी और देवलोक तथा नरक में रहे हुए देव और नेरिया मरने के अन्तर्मुहूर्त्त पहले अपने स्थानानुसार लेश्या (भावना) ही में मरेंगे।

तम्हा एयासि लेसाणं; अणुभावं वियाणिया।
अप्पसत्थाओ वज्जित्ता; पसत्थाओऽहिट्ठिए मुणि॥१७॥

अन्वयार्थः-(मुणि) हे ज्ञानीजन ! (तम्हा) इसलिए (एयासि) इन (लेसाणं) लेश्याओं के (अणुभावं) प्रभाव को (वियाणिया) जान कर (अप्पसत्थाओ) बुरी लेश्याओं (भावनाओं) को (वज्जित्ता) छोड़ कर (पसत्था) अच्छी प्रशस्त लेश्याओं को (अहिट्ठिए) अंगीकार करो।

भावार्थः-हे भले बुरे के फल जानने वाले ज्ञानी जनो ! इस प्रकार छओं लेश्याओं का स्वरूप समझकर इन में से बुरी लेश्याओं (भावनाओं) को तो कभी भी अपने हृदय तक में फटकने मत दो और अच्छी भावनाओं को सदैव हृदयंगम करके रक्खो इसी में मानव जीवन की सफलता है।

॥इति निर्ग्रन्थ-प्रवचनस्य द्वादशोऽध्यायः॥

अध्याय तेरहवां

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

कोहो अ माणो अ अणिग्गहीआ;
माया अ लोभो अ पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया;
सिंचंति मूलाइ पुणब्भवस्स ॥ १ ॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (अणिग्गहीआ) अनिग्रहित (कोहो) क्रोध (अ) और (माणो) मान (पवड्ढमाणा) बढ़ता हुआ (माया) कपट (अ) और (लोभो) लोभ (ए ए) ये (कसिणा) सम्पूर्ण (चत्तारि) चारों ही (कसाया) कषाय (पुणब्भवस्स) पुनर्जन्म रूप वृक्ष के (मूलाइ) मूलों को (सिंचंति) सींचते हैं ।

भावार्थः–हे आर्य ! निग्रह नहीं किया है ऐसा क्रोध और मान तथा बढ़ता हुआ कपट और लोभ ये चारों ही सम्पूर्ण कषाय पुनः पुनःजन्म मरण रूप वृक्ष के मूलों को हरा भरा रखते हैं । अर्थात क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों ही कषाय दीर्घ काल तक संसार में परिभ्रमण कराने वाले है ।

जे कोहणे होइ जगट्ठभासी;
विओसियं जे उ उदीरएज्जा ।

अंधे व से दंडपहं गहाय;
अविउसिए घासति पावकम्मी ॥ २ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (कोहणे) क्रोधी (होइ) होता है वह (जगट्ठभासी) जगत् के अर्थ को कहने वाला है (उ) और (जे) वह (विउसियं) उपशान्त क्रोध को (उदीरएज्जा) पुनः जागृत करता है। (व) जैसे (अंधे) अन्धा (दंडपहं) लकड़ी (गहाय) ग्रहण कर मार्ग में पशुओं से कष्ट पाता हुआ जाता है, ऐसे ही (से) वह (अविउसिए) अनुपशान्त (पावकम्मी) पाप करने वाला (घासति) चतुर्गति रूप मार्ग में कष्ट उठाता है।

भावार्थः--हे गौतम ! जिसने बात बात में क्रोध करने का स्वभाव कर रक्खा है, वह जगत् के जीवों में अपने कर्मों से लूलापन, अंधापन, बधिरता, आदि न्यूनताओं को अपनी जिह्वा के द्वारा सामने रख देता है। और जो कलह उपशान्त हो रहा है, उस को पुनः चेतन कर देता है। जैसे अन्धा मनुष्य लकड़ी को लेकर चलते समय मार्ग में पशुओं आदि से कष्ट पाता है, ऐसे ही वह महाक्रोधी चतुर्गति रूप मार्ग में अनेक प्रकार के जन्म मरणों का दुख उठाता रहता है।

जे आवि अप्पं वसुमंति मत्ता;
संखा य वायं अपरिक्ख कुज्जा।
तवेण वाहं सहिउ त्ति मत्ता,
अराणं जणं पस्सति बिंब भूयं ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जे आवि) जो अल्प मति है, वह (अप्पं) अपनी आत्मा को (वसुमंति) संयम

वान् है, ऐसा (मत्ता) मान कर (य) और (संखा) अपने को ज्ञानवान् समझता हुआ (अप्पारिक्ख) पारमार्थ को (तवेण) तपस्या करके (सहिउत्ति) सहित (अहं) मैं हूँ, ऐसा (मत्ता) मान कर (अएणं) दूसरे (जणं) मनुष्य को (बिंबभूयं) केवल आकार मात्र (पस्सति) देखता है।

भावार्थ.-हे आर्य ! जो अल्प मतिवाला मनुष्य है, वह अपने ही को संयमवान् समझता है, और कहता है, कि मेरे समान संयम रखने वाला कोई दूसरा है ही नहीं। जिस प्रकार मैं ज्ञानवाला हूँ, वैसा दूसरा कोई है ही नहीं, इस प्रकार अपनी श्रेष्ठता का सिद्धिवाद वह करता फिरता है। तथा तपवान् भी मैं ही हूँ, ऐसा मान कर वह दूसरे मनुष्य को गुणशून्य और केवल मनुष्याकार मात्र ही देखता है। इस प्रकार मान करने से वह मानी, पायी हुई वस्तु से हीनावस्था में जा गिरता है।

पूयणट्ठा जसो कामी; माणसम्माणकामए।
बहुं पसवइ पावं; माया सल्लं च कुव्वइ ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (पूयणट्ठा) ज्यों की त्यों अपनी शोभा रखने के अर्थ (जसो कामी) यश का कामी और (माणसम्माण) मान सम्मान का (कामए) चाहने वाला (बहुं) बहुत (पावं) पाप (पसवइ) पैदा करता है (च) और (माया सल्लं) कपट, शल्य को (कुव्वइ) करता है।

भावार्थः-हे गौतम ! जो मनुष्य पूजा, यश, मान और सम्मान का भूखा है, वह इन की प्राप्ति के लिए अनेक तरह

के प्रपंच करके अपने लिए पाप पैदा करता है और साथ ही में कपट करने में भी वह कुछ कम नहीं उतरता है।

कसिणं पि जो इमं लोगं,
पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से न संतुस्से,
इइ दुप्पूरए इमे आया ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति (जो) कोई (इक्कस्स) एक मनुष्य को (पडिपुण्णं) धन धान से परिपूर्ण (इमं) यह (कसिणं पि) सारा ही (लोगं) लोक (दलेज्ज) दे दे तदपि (तेणावि) उस से भी (से) वह (न) नहीं (संतुस्से) संतोषित होता है। (इइ) इस प्रकार से (इमे) यह (आया) आत्मा (दुप्पूरए) इच्छा से पूर्ण नहीं हो सकती है।

भावार्थः-हे गौतम ! वैश्रमण देव किसी मनुष्य को हीरे, पन्ने, माणिक, मोती तथा धन धान से भरी हुई सारी पृथ्वी दे देवे तो भी उस से उस को संतोष नहीं होता है। अतः इस आत्मा की इच्छा को पूर्ण करना महान् कठिन है।

सुवण्णरूप्पस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलासमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणंतिआ ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ-हे इन्द्रभूति ! (केलाससमा) कैलाश पर्वत के समान (सुवण्णरूप्पस्स) सोने, चांदी के (असं-

खया) अगणित (पव्वया) पर्वत (हु) निश्चय (भवे) हो और वे (सिया) कदाचित् मिल गये, तदपि (तेहि) उस से (लुद्धस्स) लोभी (नरस्स) मनुष्य की (किंचि) किंचित् मात्र भी तृप्ति (न) नहीं होती है, (हु) क्योंकि (इच्छा) तृष्णा (आगाससमा) आकाश के समान (अणंतिया) अनंत है।

भावार्थः--हे गौतम ! कैलाश पर्वत के समान लम्बे चौड़े असंख्य पर्वतों के जितने सोने चांदी के ढेर किसी लोभी मनुष्य को दे देवें तो भी उसकी तृष्णा पूर्ण नहीं होती है। क्यों कि जिस प्रकार आकाश का अन्त नहीं है, उसी प्रकार इस तृष्णा का कभी अन्त नहीं आता है।

पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह।
पडिपुण्णं नालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (साली) शालि (जवा) सहित (चेव) और (पसुभिस्सह) पशुओं के साथ (हिरण्णं) सोने वाली (पडिपुण्णं) सम्पूर्ण भरी हुई (पुढवी) पृथ्वी (एगस्स) एक की तृष्णा को बुझाने के लिए (नालं) समर्थवान् नहीं है। (इइ) इस तरह (विज्जा) जान कर (तवं) तप रूप मार्ग में (चरे) विचरण करना चाहिए।

भावार्थः-हे गौतम ! शालि, जव सोना, चांदी और पशुओं से परिपूर्ण पृथ्वी भी किसी एक मनुष्य की इच्छा को तृप्त करने में समर्थ नहीं है। ऐसा जान कर तप रूप मार्ग में घूमते हुए लोभदशा पर विजय प्राप्त करना चाहिए। इसी से आत्मा की तृप्ति होती है।

अहे वयइ कोहेणं; माणे णं अहमा गई ।
माया गइपडिग्घाओ; लोहाओ दुहओ भयं ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति! आत्मा (कोहेणं) क्रोध से (अहे) अधोगति में (वयइ) जाती है (माणेणं) मान से उस को (अहमा) अधम (गई) गति मिलती है (माया) कपट से (गइपडिग्घाओ) अच्छी गति का प्रतिघात होता है। (लोहाओ) लोभ से (दुहओ) दोनों भव संबंधी (भयं) भय प्राप्त होता है।

भावार्थः--हे आर्य! जब आत्मा क्रोध करती है, तो उस क्रोध से उसे नरक आदि स्थानों की प्राप्ति होती है। मान करने से वह अधम गति को प्राप्त करती है। माया करने से पुरुषत्व या देवगति आदि अच्छी गति मिलने का प्रतिघात होता है। और, लोभ से तो जीव इस भव एवं पर भव संबंधी भय को प्राप्त होता है।

कोहो पीइं पणासेइ; माणो विणय नासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ; लोभो सव्व विणासणो ॥९॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति! (कोहो) क्रोध (पीइं) प्रीति को (पणासेइ) नाश करता है (माणो) मान (विणय) विनय को (नासणो) नाश करने वाला है। (माया) कपट (मित्ताणि) मित्रता को (नासेइ) नष्ट करता है। और (लोभो) लोभ (सव्व) सारे सद्गुणों का (विणासणो) विनाशक है।

भावार्थः-हे गौतम! क्रोध ऐसा बुरा है, कि वह परस्पर

की प्रीति को क्षण भर में नष्ट कर देता है, मान जो है, वह विनम्र भाव को कभी अपनी ओर झाँकने तक भी नहीं देता। कपट से मित्रता का भंग हो जाता है, और लोभ सभी गुणों का नाश कर बैठता है। अतः क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों ही दुर्गुणों से अपनी आत्मा को सदा सर्वदा बचाते रहना चाहिए।

उवसमेण हणे कोहं; माणं मद्दवया जिणे।
मायां मज्जव भावेण; लोभं संतोसओ जिणे ॥१०॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (उवसमेण) उपशान्त "क्षमा" से (कोहं) क्रोध का (हणे) नाश करो (मद्दवया) नम्रता से (माणं) मान को (जिणे) जीतो (मज्जव) सरल (भावेण) भावना से (मायां) कपट को और (संतोसओ) संतोष से (लोभं) लोभ को (जिणे) पराजित करो।

भावार्थः--हे आर्य ! इस क्रोध रूप चाण्डाल को क्षमा से दूर भगाओ और विनम्र भावों से इस मान का मद नाश करो। इसी प्रकार सरलता से कपट को और संतोष से लोभ को पराजय करो। तभी वह मोक्ष, जहाँ पर कि गये बाद, वापिस दुखों में आने का काम नहीं, ऐसे स्थान पर जा पहुँचोगे।

असंखयं जीविय मा पमायए;
जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।
एअं वियाणाहि जणे पमत्ते;
कं नु विहिंसा अजया गहिंति ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (जीविय) यह जीवन (असंकखयं) असंस्कृत है। अतः (मा पमायए) मत करो प्रमाद (हु) क्योंकि (जरोवणीयस्स) वृद्धावस्था वाले पुरुष को किसी की (ताणं) शरण (नत्थि) नहीं है (एअं) ऐसा तू (वियाणाहि) अच्छी तरह से जान ले (पमत्ते) जो प्रमादी (विहिंसा) हिंसा करने वाले (अजया) अजितेन्द्रिय (जणे) मनुष्य हैं, वे (नु) बेचारे (कं) किसकी शरण (गहिंति) ग्रहण करेंगे।

भावार्थः--हे गौतम ! इस मानव जीवन के टूट जाने पर न तो पुनः इसकी संधि हो सकती है, और न यह बढ़ ही सकता है। अतः धर्माचरण करने में प्रमाद मत करो। यदि कोई वृद्धावस्था में किसी की शरण प्राप्त करना चाहे तो इस में भी वह असफल होता है। भला फिर जो प्रमादी और हिंसा करने वाले अजितेन्द्रिय मनुष्य हैं, वे परलोक में किस की शरण ग्रहण करेंगे ? अर्थात्--वहाँ के होने वाले [illegible] से उन्हें कौन छुड़ा सकेगा ? कोई भी बचाने वाला नहीं है।

सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी;
न वीससे पंडिए आसुपण्णे ।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं;
भारुंडपक्खी व चरऽप्पमत्तो ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (आसुपण्णे) तीक्ष्ण बुद्धि वाला (पडिबुद्धजीवी) द्रव्य निन्द्रा रहित तत्वों का जानकार (पंडिए) पण्डित पुरुष (सुत्तेसु यावी) द्रव्य और भाव से जो सोते हुए प्रमादी मनुष्य हैं, उनका (न) नहीं

(विससे) विश्वास करे, अनुकरण करे, क्योंकि (मुहुत्ता) समय आयुभ्रण करने ही से (घोरा) भयंकर है। और (सरीरं) शरीर भी (अबलं) बल रहित है। अतः (भारूंड-पक्खीव) भारंड पक्षी की तरह (अप्पमत्तो) प्रमाद रहित (चर) संयम में विचरण कर।

भावार्थः-हे गौतम ! द्रव्य निद्रा से जागृत तीक्ष्ण बुद्धिवाले पण्डित पुरुष जो होते हैं, वे द्रव्य और भाव से नींद लेनेवाले प्रमादी पुरुषों के आचरणों का अनुकरण नहीं करते हैं। क्योंकि वे जानते हैं, कि समय जो है वह मनुष्य का आयु कम करने में भयङ्कर है। और यह भी नहीं है, कि यह शरीर मृत्यु का सामना कर सके। अतएव जिस प्रकार भारंड पक्षी अपना चुगा चुगने में प्रायः प्रमाद नहीं करता है। उसी तरह तुम भी प्रमाद रहित होकर संयमी जीवन बिताने में सफलता प्राप्त करो।

जे गिद्धे कामभोएसु; एगे कूडाय गच्छइ ।
न मे दिट्ठे परे लोए; चक्खुदिट्ठा इमारई ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (एगे) कोई एक (कामभोएसु) काम भोगों में (गिद्धे) आसक्त होता है, वह (कूडाय) हिंसा और मृषा भाषा को (गच्छइ) प्राप्त होता है, फिर उससे पूछने पर वह बोलता है, कि (मे) मैंने (परलोए) परलोक (न) नहीं (दिट्ठे) देखा है। (इमा) इस (रइ) पौद्गलिक सुख को (चक्खुदिट्ठा) प्रत्यक्ष आखों से देख रहा हूँ।

भावार्थः-हे आर्य ! जो काम भोग में सदैव लीन रहता

है वह हिंसा झूँठ आदि से बचा हुआ नहीं रहता है। यदि उन से कहा जाय कि हिंसादि कर्म करोगे तो नर्क में दुख उठाओगे और सत्कर्म करोगे तो स्वर्ग में दिव्य सुख भोगोगे। ऐसा कहने पर वह प्रमादी बोल उठता है कि मैंने कोई भी स्वर्ग नर्क नहीं देखे हैं. कि जिनके लिए इन प्रत्यक्ष काम भोगों का आनंद छोड़ बैठूँ।

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते;
इमम्मि लोए अदुवा परत्था ।
दीवप्पणट्ठेव अणंत मोहे;
नेयाउअं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (पमत्ते) वह प्रमादी मनुष्य (इमम्मि) इस (लोए) लोक में (अदुवा) अथवा (परत्था) परलोक में (वित्तेण) द्रव्य से (ताणं) त्राण शरण (न) नहीं (लभे) पाता है (अणंतमोहे) वह अनंत मोहवाला (दीवप्पणट्ठेव) दीपक के नाश हो जाने पर (नेयाउअं) न्यायकारी मार्ग को(दट्ठुमदट्ठुमेव) देखने पर भी न देखने वाले के समान है।

---

(१) जसे कोई धातु ढूंढने वाले मनुष्य दीपक को लेकर पर्वत की गुफ़ा की ओर गये, और उस दीपक से गुफ़ा देख भी ली, परन्तु उस में प्रवेश होने पर उस दीपक की उन्होंने कोई पर्वाह न की। उन के आलस्य से दीपक बुझ गया, तब तो उन्हों ने अँधेरे में इधर उधर भटकते हुए प्राणान्त कष्ट पाया। इसी तरह प्रमादी जीव धर्म के द्वारा मुक्ति पथ को

भावार्थः--हे गौतम ! धर्म-साधन-करने में आलस करने वाले प्रमादी मनुष्यों की इस लोक और परलोक में द्रव्य के द्वारा रक्षा नहीं हो सकती है। प्रत्युत वे अनंत मोह वाले दीपक के नाश हो जाने पर न्यायकारी मार्ग को देखते हुए भी नहीं देखने वाले के समान हैं।

हत्थागया इमे कामा;
कालिआ जे अणागया।
को जाणइ परे लोए;
अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः--हे धर्म तत्वज्ञ ! (इमे) ये (कामा) काम भोग (हत्थागया) हस्तगत हो रहे हैं, और इन्हें त्यागने पर (जे) जो (अणागया) आगामी भव में सुख होगा, यह तो (कालिआ) भविष्यत् की बात है (पुणो) तो फिर (को) कौन (जाणइ) जानता है (परेलोए) परलोक (अत्थि) है (वा) अथवा (नत्थि) नहीं है।

भावार्थः--हे धर्म के तत्त्व को जानने वालों ! ये काम भोग जो प्रत्यक्ष रूप में मुझे मिल रहे हैं। और जिन्हें त्याग देने पर आगामी भव में इस से भी बढ़ कर तथा आत्मिक सुख प्राप्त होगा, ऐसा तुम कहते हो; परन्तु यह तो भविष्यत् की बात है। और फिर कौन जानता है, कि नरक स्वर्ग और मोक्ष है या नहीं ?

देख लेने पर भी उस धर्म की द्रव्य के लोभ वश फिर उपेक्षा कर बैठते हैं। वहाँ वे जन्मजन्मान्तरों में प्राणान्त जैसे कष्टों को अनेकों बार उठाते रहेंगे।

जणेण सद्धिं होक्खामि; इइ बाले पगब्भइ।
काम भोगाणुराएणं; केसं संपडिवज्जइ॥ १६॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति! (जणेणसद्धिं) इतने मनुष्यों के साथ मेरा भी (होक्खामि) जो होना होगा, सो होगा. (इइ) इस प्रकार (बाले) वे अज्ञानी (पगब्भइ) बोलते हैं, पर वे आखिर (कामभोगाणुराएणं) काम भोगों के अनुरागी (केसं) दुख ही को (संपडिवज्जइ) प्राप्त होते हैं।

भावार्थः--हे गौतम! वे अज्ञानी जन इस प्रकार फिर बोलते हैं, कि इतने दुष्कर्मी लोगों का पर लोक में जो होगा, वह मेरा भी हो जायगा। इतने सब के सब लोग क्या मूर्ख हैं? पर हे गौतम! आखिर में वे काम भोगों के अनुरागी लोग इस लोक और परलोक में महान् दुखों को भोगते हैं।

तओ से दंडं समारभइ; तसेसु थावरेसुय।
अट्ठाए व अणट्ठाए; भूयग्गामं विहिंसइ॥ १७॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति! यों स्वर्ग नरक आदि की असम्भावना मान करके (तओ) उसके बाद (से) वह मनुष्य (तसेसु) त्रस (अ) और (थावरेसु) स्थावर जीवों के विषय (अट्ठाए) प्रयोजन से (व) अथवा (अणट्ठाए) बिना प्रयोजन से (दंडं) मन, वचन, काया के दण्ड को (समारभइ) समारंभ करता है। और (भूयग्गामं) प्राणियों के समूह का (विहिंसइ) वध करता है।

भावार्थः--हे आर्य! नास्तिक लोग प्रत्यक्ष भोगों को

छोड़ कर भविष्यत् की कौन आशा करे, इस प्रकार कह कर, अपने दिल को कठोर बना लेते हैं। फिर वे, हलते चलते त्रस जीवों और स्थावर जीवों की प्रयोजन से अथवा बिना प्रयोजन से, हिंसा करने के लिए, मन, वचन, काया के योगों को प्रारम्भ कर, असंख्य जीवों की हिंसा करते हैं।

हिंसे बाले मुसावाई; माइल्ले पिसुणे सढे ।
भुंजमाणे सुरं मसं; सेयमेअं ति मन्नइ ॥ १८ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! स्वर्ग नर्क को न मान कर वह (हिंसे) हिंसा करने वाला (बाले) अज्ञानी (मुसावाई) फिर झूठ बोलता है (माइल्ले) कपट करता है, (पिसुणे) निन्दा करता है (सढे) दूसरों को ठगने की करतूत करता रहता है (सुरं) मदिरा (मसं) माँस (भुंजमाणे) भोगता हुआ (सेयमेअं) श्रेष्ठ है (ति) ऐसा (मन्नइ) मानता है।

भावार्थः-हे गौतम! स्वर्ग नर्क आदि की असम्भावना करके वह अज्ञानी जीव हिंसा करने के साथ ही साथ झूठ बोलता है, प्रत्येक बात में कपट करता है। दूसरों की निंदा करने में अपना जीवन अर्पण कर बैठता है। दूसरों को ठगने में अपनी सारी बुद्धि खर्च कर देता है। और मदिरा एवं मांस खाता हुआ भी अपना जीवन श्रेष्ठ मानता है

कायसा वयसा मत्ते; वित्ते गिद्धे य इत्थिसु ।
दुहओ मल संचिणइ; सिसूणागु व्व मट्टियं ॥ १९ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! वे नास्तिक लोग (कायसा) काया करके (वायसा) वचन करके (मत्ते) गर्वान्वित होने

वाले (वित्ते) धन में (य) और (इत्थिसु) स्त्रियों में (गिद्धे) आसक्त हो रहे हैं, ऐसे वे मनुष्य (दुहओ) राग द्वेष करके (मल) कर्म मल को (संचिणइ) इकट्ठा करते हैं (व्व) जैसे (सिसूणागु) शिशूनाग " अलसिया " (मट्टिअं) मिट्टी से लिपटा रहता है।

भावार्थः—हे आर्य! मन वचन और काया से गर्व करने वाले वे नास्तिक लोग धन और स्त्रियों में आसक्त हो कर रागद्वेष से गाढ़ कर्मों का अपनी आत्मा पर लेप कर रहे हैं। पर उन कर्मों के उदय काल में, जैसे अलसिया मिट्टी से उत्पन्न हो कर, फिर मिट्टी ही से लिपटाता है, किन्तु सूर्य की आतापना से मिट्टी के सूखने पर वह अलसिया महान् कष्ट उठाता है, उसी तरह वे नास्तिक लोग भी जन्म जन्मान्तरों में महान् कष्टों को उठावेंगे।

तओ पुट्टो आयंकेण; गिलाणो परितप्पइ।
पभीओ परलोगस्स; कम्माणुप्पेहि अप्पणो ॥ २० ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! कर्म बाँध लेने के (तओ) पश्चात् (आयंकेण) असाध्य रोगों से (पुट्टो) घिरा हुआ वह नास्तिक (गिलाणो) ग्लानि पाता है और (परलो-गस्स) परलोक के भय से (पभीओ) डरा हुआ (अप्पणो) अपने किये हुए (कम्माणुप्पेहि) कर्मों को देख कर (परि-तप्पइ) खेद पाता है।

भावार्थः—हे गौतम! पहले तो वे विषयों के लोलुप हो कर कर्म बाँध लेते हैं। फिर उन कर्मों का उदय काल निकट आता है। तो वे असाध्य रोगों से घिर जाते हैं। उस

समय बड़ी ग्लानि उन्हें होती है। नर्कादि के दुखों से वे बड़े घबराते हैं। और अपने किये हुए बुरे कर्मों के फलों को देख कर वे अत्यन्त खेद पाते हैं।

सुआ मे नरए ठाणा; असीलाणं च जा गई ।
बालाणं कूरकम्माणं; पगाढा जत्थ वेयणा ॥ २१ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! वे बोलते हैं, कि (मे) मैंने (नरए) नर्क में (ठाणा) कुंभी, वैतरणी, आदि जो स्थान हैं, उन के नाम (सुआ) सुने हैं, (च) और (असीलाणं) दुराचारियों की (जा) जो (गई) नारकीय गति होती है उसे भी (जत्थ) जहाँ पर उन (कूरकम्माणं) क्रूर कर्मों के करने वाले (बालाणं) अज्ञानियों को (पगाढा) प्रगाढ़ (वेयणा) वेदना होती है।

भावार्थः-हे आर्य ! नास्तिक जन नर्क और स्वर्ग किसी को भी न मान कर खूब पाप करते हैं। जब उन कर्मों का उदय काल निकट आता है। तो उनको कुछ असारता मालूम होने लगती है। तब वे बोलते हैं कि सच है, हमने तत्वज्ञों द्वारा सुना है, कि नरक में पापियों के लिए कुम्भियाँ, वैतरणी नदी आदि स्थान हैं। और उन दुष्कार्मियों की जो नारकीय गति होती है, वहाँ क्रूरकर्मी अज्ञानियों को प्रगाढ़ वेदना होती है।

सव्वं विलविअं गीअं; सव्वं नट्टं विडंबिअं ।
सव्वे आहरणा भारा; सव्वे कामा दुहावहा ॥२२॥

अन्वयार्थ-हे इन्द्रभूति ! (सव्वं) सारे (गीअं)

गीत (विलविश्रं) विलाप के समान हैं। (सव्वं) सारे (नट्टं) नृत्य (विडंबिश्रं) विडम्बना रूप हैं। (सव्वे) सारे (आहरणा) आभरण (भारा) भार के समान हैं। और (सव्वे) सम्पूर्ण (कामा) कामभोग (दुहावहा) दुख प्राप्त कराने वाले हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! सारे गीत विलाप के समान हैं। सारे नृत्य विडम्बना के समान हैं। सारे रत्न जटित आभरण भार रूप हैं। और सम्पूर्ण काम भोग जन्म जन्मांतरों में दुख देने वाले हैं।

जहेह सीहो व मिश्रं गहाय;
मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले।
न तस्स माया व पिश्रा व भाया;
कालम्मि तम्मि सहरा भवंति ॥ २३ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (इह) इस संसार में (जहा) जैसे (सीहो) सिंह (मिश्रं) मृग को (गहाय) पकड़ कर उसका अन्त कर डालता है, (व) वैसे ही (मच्चू) मृत्यु (हु) निश्चय करके (अन्तकाले) आयुष्य पूर्ण होने पर (नरं) मनुष्य को (नेइ) परलोक में ले जा कर पटक देती है। (तम्मि) उस (कालम्मि) काल में (तस) उस के (माया) माता (वा) अथवा (पिश्रा) पिता (व) अथवा (भाया) भ्राता (सहरा) उस दुख को अंश मात्र भी बँटाने वाले (न) नहीं (भवंति) होते हैं।

भावार्थः-हे आर्य ! जिस प्रकार सिंह भागते हुए मृग को पकड़ कर उसे मार डालता है। इसी तरह मृत्यु भी मनु-

ष्य को परलोक में ले जा कर पटक देती है। उस समय उस के माता, पिता, भाई आदि कोई भी उस के दुख का बँटवारा कराके भागीदार नहीं बनते हैं। और न अपनी निजी आयु में से भी आयु का कोई भाग ही दे कर मृत्यु से उसे बचा सकते हैं।

इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि;
इमं च मे किच्चमिमं अकिच्चं।
तं एवमेवं लालप्पमाणं;
हरा हरंति ति कहं पमाओ ॥ २४ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (इमं) यह धान्यादि (मे) मेरा (अत्थि) है, (च) और (इमं) यह घर (मे) मेरे (किच्चं) करने योग्य है (च) और (इमं) यह व्यापार (अकिच्चं) नहीं करने योग्य है, (एवमेवं) इस प्रकार (लालप्पमाणं) बोलनेवाले प्रमादियों के (तं) आयु को (हरा) रात दिन रूप चोर (हरंति) हरण कर रहे हैं (ति) इस लिए (कहं) कैसे (पमाओ) प्रमाद कर रहे हो ?

भावार्थ-हे गौतम ! धान्य तो मेरा है, पर धन मेरा नहीं है। यह घर करने का है, और यह बिना लाभ का व्यापार मेरे नहीं करने का है। आदि इस प्रकार बोलने वालों का आयु तो रात दिन रूप चोर हरण करते जा रहे हैं। फिर प्रमाद क्यों करते हो ?

॥ इति निर्ग्रन्थ-प्रवचनस्य त्रयोदशोऽध्यायः ॥

अध्याय चौदहवां

भगवान् श्रीऋषभोवाच

संबुज्झह किं न बुज्झह; संबोही खलु पेच्च दुल्लहा;
णो हूवणमंति राइउ; नो सुलभं पुणरवि जीवियं ॥ १ ॥

अन्वयार्थः-हे पुत्रो! (संबुज्झह) धर्म बोध करो (किं) सुविधा पाते हुए क्यों (न) नहीं (बुज्झह) बोध करते हो? क्योंकि (पेच्च) परलोक में (खलु) निश्चय ही (संबोही) धर्म-प्राप्ति होना (दुल्लहा) दुर्लभ है। (राइउ) गयी हुई रात्रि (णो) नहीं (हु) निश्चय (उवणमंति) पीछी आती है। (पुणरवि) और फिर भी (जीवियं) मनुष्य जन्म मिलना (सुलभं) सुगम (न) नहीं है।

भावार्थः-हे पुत्रो! सम्यक्त्वरूप धर्म बोध-को प्राप्त करो। सब तरह से सुविधा होते हुए भी धर्म को प्राप्त क्यों नहीं करते? अगर मानव जन्म में धर्म-बोध प्राप्त न किया, तो फिर धर्म-बोध प्राप्त होना महान् कठिन है। गया हुआ समय तुम्हारे लिए वापस लौट कर आने का नहीं, और न मानव जीवन ही सुलभता से मिल सकता है।

डहरा बुड्ढाह पासह; गब्भत्था वि चियंति माणवा।
सेणे जह वट्टयं हरे; एवमाउक्खयम्मि तुट्टई ॥ २ ॥

अन्वयार्थः—हे पुत्रो ! (पासह) देखो (डहरा) बालक तथा (बुड्ढाइ) वृद्ध (चियंति) शरीर त्याग देते हैं । और (गब्भत्था) गर्भस्थ (माणवा वि) मनुष्य भी शरीर त्याग देते हैं (जह) जैसे (सेणे) बाज पक्षी (वट्टयं) बटेर को (हरे) हरण कर ले जाता है (एवं) इसी तरह (आउक्खयम्मि) उम्र के बीत जाने पर (तुट्टई) मानव-जीवन टूट जाता है ।

भावार्थः—हे पुत्रो ! देखो कितनेक तो बालवय में ही तथा कितनेक वृद्धावस्था में अपने मानव-शरीर को छोड़ कर यहाँ से चल बसते हैं । और कितनेक गर्भावास में ही मरण को प्राप्त हो जाते हैं । जैसे, बाज पक्षी अचानक बटेर को आ दबोचता है, वैसे ही न मालूम किस समय आयु के क्षय हो जाने पर मृत्यु प्राणों को हरण कर लेगी । अर्थात् आयु के क्षय होने पर मानव-जीवन की शृंखला टूट जाती है ।

मायाहिं पियाहिं लुप्पइ,
नो सुलहा सुगई य पेच्चओ ।
एयाइं भयाइं पेहिया,
आरंभा विरमेज्ज सुव्वए ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः—हे पुत्रो ! माता पिता के मोह में फँस कर जो धर्म नहीं करता है, वह (मायाहिं) माता (पियाहिं) पिता के द्वारा ही (लुप्पइ) परिभ्रमण करता है (य) और उसे (पेच्चओ) परलोक में (सुगई) सुगति मिलना (सुलहा) सुलभ (न) नहीं है । (एयाइं) इन (भयाइं) भयों को (पेहिया) देख कर (आरंभा) हिंसादि आरंभ से (विरमेज्ज) निवृत्त हो, वही (सुव्वए) सुव्रतधारी है ।

अन्वयार्थः–हे पुत्रो ! माता पितादि कौटुम्बिक जनों के मोह में फँस कर जिसने धर्म नहीं किया, वह उन्हीं के कारणों से संसार के चक्र में अनेक प्रकार के कष्टों को उठाता हुआ भ्रमण करता रहता है, और जन्म जन्मान्तरों में भी उसे सुगति का मिलना सुलभ नहीं है। अतः इस प्रकार संसार में भ्रमण करने से होने वाले अनेकों कष्टों को देख कर जो हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि कामों से विरक्त रहे वही मानव-जीवन को सफल करने वाला सुव्रती पुरुष है।

जमिणं जगति पुढो जगा;
कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो।
सयमेव कडेहिं गाहइ;
णो तस्स मुच्चेज्ज पुट्ठयं ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः–हे पुत्रो ! (जमिणं) जो हिंसा से निवृत्त नहीं होते हैं उनको यह होता है, कि (जगति) संसार में (पाणिणो) वे प्राणी (पुढो) पृथक् पृथक् (जगा) पृथ्वी आदि स्थानों में (कम्मेहिं) कर्मों से (लुप्पंति) भ्रमण करते हैं। क्योंकि (सयमेव) अपने (कडेहिं) किये हुए कर्मों के द्वारा (गाहइ) नरकादि स्थानों को वे प्राप्त करते हैं। (तस्स) उन्हें (पुट्ठयं) कर्म स्पर्श अर्थात् भोगे बिन (णो) नहीं (मुच्चेज्ज) छोड़ते हैं।

भावार्थः–हे पुत्रो ! जो हिंसादि से मुंह नहीं मोड़ते हैं, वे इस संसार, में पृथ्वी, पानी, नरक और तिर्यञ्च आदि अनेकों स्थानों और योनियों में कष्टों के साथ घूमते रहते हैं। क्योंकि उन्होंने स्वयमेव ही ऐसे कार्य किये हैं, कि जिन कर्मों के भोगे बिना उनका निपटारा कभी हो ही नहीं सकता है।

विरया वीरा समुट्ठिया;
कोहकायरियाइ पीसणा ।
पाणे ण हणंति सव्वसो;
पावाउ विरिया अभिनिव्वुडा ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः-हे पुत्रो ! (विरया) पौद्गलिक सुखों से जो विरक्त है और (समुट्ठिया) सदाचार के सेवन करने में सावधान जो है, (कोहकायरियाइ) क्रोध, माया और उपलक्षण मान एवं लोभ को (पीसणा) नाश करने वाला जो है, (सव्वसो) मन वचन, काया, से जो (पाणे) प्राणों को (ण) नहीं (हणंति) हनता है (पावाउ) हिंसाकारी अनुष्ठानों से जो (विरिया) विरक्त है, और (अभिनिव्वुडा) क्रोधादि से उपशान्त है चित्त जिसका, उस को (वीरा) वीर पुरुष कहते हैं ।

भावार्थः-हे पुत्रो ! मार काट या युद्ध करके कोई वीर कहलाना चाहे तो वास्तव में, वह वीर नहीं बन सकता है । वीर तो वह है जो पौद्गलिक सुखों से अपना मन मोड़ लेता है, सदाचार का पालन करने में सदैव सावधानी रखता है, क्रोध, मान, माया, और लोभ इन्हें अपना आन्तरिक शत्रु समझ कर, इनके साथ युद्ध करता रहता है, और उस युद्ध में उन्हें नष्ट कर विजय प्राप्त करता है; मन, वचन, और काया से किसी तरह दूसरों के हक़ में बुरा न हो, ऐसा हमेशा ध्यान रखता रहता है, और हिंसादि आरंभ से दूर रह कर जो उपशान्त चित्त से रहता है ।

जे परभवई परं जणं;
संसारे परिवत्तइ महं ।

अदु इंखाणिया उ पाविया;
इति संखाय मुणी ण मज्जई ॥६॥

अन्वयार्थः-हे पुत्रो ! (जे) जो (परं) दूसरे (जणं) मनुष्य को (परभवई) अवज्ञा से देखता है, वह (संसारे) संसार में (महं) अत्यन्त (परिवत्तइ) परिभ्रमण करता है (अदु) इसलिए (पाविया) पापिनी (इंखिणिया) निन्दा को (इति) ऐसी (संखाय) जान कर (मुणी) साधु पुरुष (ण) नहीं (मज्जई) अभिमान करे।

भावार्थः-हे पुत्रो ! जो मनुष्य अपने से जाति, कुल, बल, रूप आदि में न्यून हो, उसकी अवज्ञा या निन्दा करने से, वह मनुष्य दीर्घ काल तक संसार में परिभ्रमण करता रहता है। जिस वस्तु को पाकर निन्दा की थी, वह पापिनी निन्दा उससे भी अधिक हीनावस्था में पटकनेवाली है। ऐसा जान कर साधु जन न तो कभी दूसरे की निन्दा ही करते हैं, और न, पायी हुई वस्तु ही का कभी गर्व वे करते हैं।

जे इह सायाणुनरा;
अज्झोववणा कामेहिं मुच्छिया।
किवणेणसमं पगब्भिया;
न विजाणंति समाहिमाहितं ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः-हे पुत्रो (इह) इस संसार में (जे) जो (सायाणु) ऋद्धि, रस साता के (अज्झोववणा) साथ (नरा) मनुष्य (कामेहिं) काम भोगों में (मुच्छिया) मोहित हो रहे हैं, और (किवणेणसमं) दीन सरीखे (पग

डिभया) धेटे (आहिसं) कहे हुए (समाहिं) समाधि मार्ग को (न) नहीं (विजाणंति) जानते हैं।

भावार्थः-हे पुत्रो ! इस संसार में अनेक प्रकार के वैभवों से युक्त जो मनुष्य हैं, वे काम भोगों में आसक्त हो कर कायर की तरह बोलते हुए, धर्माचरण में हटीलापन दिखाते हैं, उन्हें ऐसा समझो कि वे वीतराग के कहे हुए समाधि मार्ग को नहीं जानते हैं।

अदक्खुव दक्खुवाहियं;
सद्दहसुअदक्खु दंसणा।
हंदि हु सुनिरूद्ध दंसणे;
मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः-हे पुत्रो ! (अदक्खुव) तुम अन्धे क्यों बने जा रहे हो ! (दक्खुवाहियं) जिनने देखा है उनके वाक्यों में (सद्दहसु) श्रद्धा रक्खो और (अदक्खुदंसणा) हे ज्ञान शून्य मनुष्यो ! (हंदि) ग्रहण करो वीतराग के कहे हुए आगमों को। परलोकादि नहीं है, ऐसा कहने वालों के (मोहणिजेण) मोहवश (कडेण) अपने किये हुए (कम्मुणा) कर्मों द्वारा (दंसणे) सम्यक् ज्ञान (सुनिरूद्ध) अच्छी तरह ढका है।

भावार्थः-हे पुत्रो ! कर्मों के शुभाशुभ फल होते हुए भी जो उसकी नास्तिकता बताता है, वह अन्धा ही है। ऐसे को कहना पड़ता है, कि जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप में अपने केवल ज्ञान के बल से स्वर्ग नरकादि देखे हैं, उन के वाक्यों को प्रमाण भूत, वह माने और उनके कहे हुए वाक्यों को, ग्रहण कर

हित के लिए (तिविहेण वि) मन, वचन, कर्म से (पाण) प्राणों को (माइणो) नहीं हनते (अणियाणा) निदान रहित (संवुडे) इन्द्रियों को गोपे (एवं) इस प्रकार का जीवन करने से (अणंतसो) अनंत (सिद्धा) मोक्ष गये हैं और (सम्पइ) वर्तमान में जा रहे हैं (अणागयावरे) और अनागत अर्थात् भविष्यत् में जावेंगे

भावार्थः-हे पुत्रो ! जो आत्म हित के लिए एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत प्राणी मात्र की मन, वचन, और कर्म से हिंसा नहीं करते हैं, और अपनी इन्द्रियों को विषय वासना की ओर घूमने नहीं देते हैं, बस, इसी व्रत के पालन करते रहने से भूत काल में अनंत जीव मोक्ष पहुँचे हैं। और वर्तमान में जा रहे हैं। इसी तरह भविष्यत् काल में भी जावेंगे।

॥ श्री भगवानुवाच ॥

संबुज्झहा जंतवो माणुसत्तं;
दट्ठुं भयं बालिसेणं अलंभो।
एगंतदुक्खे जरिएव लोए;
सकम्मुणा विप्परियासुवेइ ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः-(जंतवो) हे मनुजो! तुम (संबुज्झहा) सम्यक् ज्ञान प्राप्त करो (माणुसत्तं) मनुष्य भव मिलना कठिन है। (भयं) नरकादि भय को (दट्ठुं) देख कर (बालिसेणं) मूर्खता से विवेक को (अलंभो) जो प्राप्त नहीं करते वे (सकम्मुणा) अपने किये हुए कर्मों के द्वारा (जरिएव)

ज्वर से पीड़ित मनुष्यों की भाँति (एगंत दुक्खे) एकान्त दुख युक्त (लोए) लोकों में (विप्परियासुवेइ) पुनः पुनः जन्म मरण को प्राप्त होता है।

भावार्थः-हे मनुजो ! दुर्लभ मनुष्य भव को प्राप्त कर के फिर भी जो सम्यक्-ज्ञान आदि को प्राप्त नहीं करते हैं, और नरकादि के नाना प्रकार के दुख रूप भयों के होते हुए भी मूर्खता के कारण विवेक को प्राप्त नहीं करते हैं, वे अपने किये हुए कर्मों के द्वारा ज्वर से पीड़ित मनुष्यों की तरह एकान्त दुखकारी जो यह लोक है, इस में पुनः पुनः जन्म मरण को प्राप्त करते हैं।

जहा कुम्मे सअंगाइं; सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेधावी; अज्झप्पेण समाहरे ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः-हे आर्य ! (जहा) जैसे (कुम्मे) कछुआ (सअंगाइं) अपने अङ्गोपाङ्गों को (सए) अपने (देहे) शरीर में (समाहरे) सिकुड़ लेता है (एवं) इसी तरह (मेधावी) पण्डित जन (पावाइं) पापों को (अज्झप्पेण) अध्यात्म ज्ञान से (समाहरे) संहार कर लेते हैं

भावार्थः-हे आर्य ! जैसे कछुआ अपना अहित होता हुआ देख कर अपने अङ्गोपाङ्गों को अपने शरीर में सिकुड़ लेता है, इसी तरह पण्डित जन भी विषयों की ओर जाती हुई अपनी इन्द्रियों को अध्यात्मिक ज्ञान से संकुचित कर रखते हैं।

साहरे हत्थपाए य, मणं पंचेन्द्रियाणि य।
पावकं च परीणामं, भासा दोसं च तारिसं ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः--हे आर्य ! (तारिसं) कछुवे की तरह ज्ञानी जन (हत्थपाए य) हाथ और पावों की व्यर्थ चलन क्रिया को (मणं) मन की चपलता को (य) और (पंचेन्द्रियाणि) विषय की ओर घूमती हुई पाँचों ही इन्द्रियों को (च) और (पावकं) पाप के हेतु (परीणामं) आने वाले अभिप्राय को (च) और (भासा दोसं) सावद्य भाषा बोलने को (साहरे) रोक रखते हैं।

भावार्थः--हे आर्य ! जो ज्ञानी जन है, वे कछुए की तरह अपने हाथ पावों को संकुचित रखते हैं। अर्थात् उनके द्वारा पाप कर्म नहीं करते हैं। और पापों की ओर घूमते हुए इस मन के वेग को रोकते हैं। विषयों की ओर इन्द्रियों को झाँकने तक नहीं देते हैं। और बुरे भावों को हृदय में नहीं आने देते। और जिस भाषा में दूसरों का बुरा होता हो, ऐसी भाषा भी कभी नहीं बोलते हैं।

एयं खु णाणिणो सारं; जं न हिंसति कंचणं।
अहिंसा समयं चेव; एतावंतं वियाणिया ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः--हे आर्य ! (खु) निश्चय करके (णाणिणो) ज्ञानियों का (एयं) यह (सारं) तत्त्व है, कि (जं) जो (कंचणं) किसी भी जीव को (न) नहीं (हिंसति) हिंसा करते (अहिंसा) अहिंसा (चेव) ही (समयं) शास्त्रीय तत्त्व है (एतावंतं) बस, इतना ही (वियाणिया) विज्ञान है। वह यथेष्ट ज्ञानीजन है।

भावार्थः--हे आर्य ! ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उन ज्ञानियों का सारभूत तत्त्व यही है, कि वे किसी जीव की हिंसा नहीं करते। वे अहिंसा ही को शास्त्रीय प्रवचन विषय समझते

हैं। वास्तव में इतना जिसे सम्यक् ज्ञान है, वही यथेष्ट ज्ञानी-जन है। बहुत अधिक ज्ञान सम्पादन करके भी यदि हिंसा को न छोड़े, तो उनका विशेष ज्ञान भी अज्ञान रूप है।

संबुज्झमाणे उ णरे मतीमं;
पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा
हिंसप्पसूयाइं दुहाइं मत्ता;
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः--हे आर्य ! (संबुज्झमाणे) तत्वों को जानने वाला (मतीमं) बुद्धिमान् (णरे) मनुष्य (हिंसप्पसूयाइं) हिंसा से उत्पन्न होने वाले (दुहाइं) दुखों को (वेराणुबंधीणि) कर्मबंधहेतु (महब्भयाणि) महाभयकारी (मत्ता) मान कर (पावाउ) पापसे (अप्पाण) अपनी आत्मा को (निवट्टएज्जा) निवृत करते रहते हैं।

भावार्थः--हे आर्य! बुद्धिमान् मनुष्य वही है, जो सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करता हुआ, हिंसा से उत्पन्न होने वाले दुखों को कर्म बंध का हेतु और महाभयकारी मान कर, पापों से अपनी आत्मा को दूर रखता है।

आयगुत्ते सया दंते; छिन्नसोए अणासवे ।
जे धम्मं सुद्धमक्खाति; पडिपुन्नमणालिसं ॥ १७ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (आयगुत्ते) आत्मा को गोपता हो, (सया) हमेशा (दंते) इतिन्द्रयों का दमन करता हो (छिन्न सोए) छेदता है जो संसार के स्रोतों को और (अणासवे) नूतन कर्म बंधन रहित जो पुरुष हो,

वह (पडिपुन्नं) परिपूर्ण (अणालिसं) अनन्य (सुद्धं) शुद्ध (धम्मं) धर्म को (अक्खाति) कहता है।

भावार्थः--हे गौतम ! जो अपनी आत्मा का दमन करता है, इन्द्रियों के विषयों के साथ जो विजय को प्राप्त करता है, संसार में परिभ्रमण करने के हेतुओं को नष्ट कर डालता है, और नवीन कर्मों का बंध नहीं करता है, वही ज्ञानी जन सर्व मान्य धर्म मूलक तत्त्वों को कहता है।

न कम्मणा कम्म खवेंति बाला;
　　अकम्मणा कम्म खवेंति धीरो।
मेधाविणो लोभमया वतीता;
　　संतोसिणो नोपकरेंति पावं ॥ १८ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (बाला) जो अज्ञानी जन हैं वे (कम्मणा) हिंसादि कार्मों से (कम्म) कर्म को (न) नहीं (खवेंति) नष्ट करते हैं, (धीरो) बुद्धिमान् मनुष्य (अकम्मणा) अहिंसादिकों से (कम्म) कर्म (खवेंति) नष्ट करते हैं. (मेधाविणो) बुद्धिमान (लोभमया) लोभ से (वतीता) रहित (संतोसिणो) संतोषी होते हैं, वे (पावं) पाप (नोपकरेंति) नहीं करते हैं।

भावार्थः--हे गौतम ! हिंसादि के द्वारा पूर्व संचित कर्मों को हिंसादि ही से जो अज्ञानी जीव नष्ट करना चाहते हैं, यह उनकी भूल है। प्रत्युत कर्मनाश के बदले उनके गाढ़ कर्मों का बंध होता है। क्योंकि खून से भींगा हुआ कपड़ा खून ही के द्वारा कभी साफ़ नहीं होता है, बुद्धिमान् तो वही है, जो हिंसादि के द्वारा बँधे हुए कर्मों को अहिंसा, सत्य, दत्त,

ब्रह्मचर्य, अकंचनादि के द्वारा नष्ट करते हैं। और वे लोभ की मात्रा से रहित हो कर संतोषी हो जाते हैं। वे फिर भविष्यत् में नवीन पाप कर्म नहीं करते हैं।

डहरे य पाणे बुड्ढे य पाणे;
ते आत्तउ पासइ सव्व लोए।
उव्वेहती लोगमिणं महंतं:
बुद्धऽपमत्तेसु परिव्वएज्जा ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (डहरे) छोटे (पाणे) प्राणी (य) और (बुड्ढे) बड़े (पाणे) प्राणी (ते) उन सभी को (सव्वलोए) सर्व लोक में (आत्तउ) आत्मवत् (पासइ) जो देखता है (इणं) इस (लोगं) लोक को (महंतं) बड़ा (उव्वेहती) देखता है (बुद्धे) वह तत्त्वज्ञ (अपमत्तेसु) आलस रहित संयम में (परिव्वएज्जा) गमन करता है।

भावार्थः--हे गौतम ! चींटियें, मकोड़े, कुंथुवे, आदि छोटे छोटे प्राणी और गाय, भैंस, बकरे आदि बड़े बड़े प्राणी आदि सभी को अपनी आत्मा के समान जो समझता है। और महान् लोक को चराचर जीव के जन्म मरण से अशाश्वत देख कर जो बुद्धिमान् मनुष्य संयम में रत रहता है। वही मोक्ष में पहुँचने का अधिकारी है।

॥इति निर्ग्रन्थ-प्रवचनस्य चतुर्दशोऽध्यायः॥

अध्याय पंद्रहवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

एगे जिए जिया पंच; पंच जिए जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ताणं; सव्वसत्तू जिणामहं ॥ १ ॥

अन्वयार्थः--हे मुनि ! (एगे) एक मन (जिए) जितने पर (पंच) पाँचों इन्द्रियां (जिया) जीत ली जाती हैं और (पंच) पाँच इन्द्रियां (जिए) जीतने पर (दस) एक मन पाँच इन्द्रियां और चार कषाय, यों दसों (जिया) जीतलिये जाते हैं । (दसहा उ) दशों को (जिणित्ता) जीत कर (णं) वाक्यालङ्कार (सव्वसत्तू) सभी शत्रुओं को (महं) मैं (जिणा) जीत लेता हूँ ।

भावार्थ.--हे मुनि ! एक मन को जीत लेने पर पाँचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करली जाती है । और पाँचों इन्द्रियों को जीत लेने पर एक मन पाँच इन्द्रियाँ और क्रोध, मान, माया, लोभ ये दशों ही जीत लिये जाते हैं । और, इन दशों को जीत लेने से, मैं सभी शत्रुओं को जीत सकता हूँ । इसीलिए सब मुनि और गृहस्थों के लिए एक बार मन को जीत लेना श्रेयस्कर है ।

मणो साहसिओ भीमो; दुट्ठस्सो परिधावइ ।
तं सम्मं तु निगिण्हामि; धम्मसिक्खाइ कंथगं ॥२॥

अन्वयार्थः--हे मुनि (मणो) मन बड़ा (साहसिओ) साहसिक और (भीमो) भयंकर (दुट्ठस्स) दुष्ट घोड़े की तरह इधर उधर (परिधावइ) दौड़ता है (तं) उसको (धम्म-सिक्खाइ) धर्म रूप शिक्षा से (कंथगं) जातिवंत अश्व की तरह (सम्मं) सम्यक् प्रकार से (निगिण्हामि) गृहण करता हूँ

भावार्थः--हे मुनि! यह मन अनर्थों के करने में बड़ा साहासिक और भयंकर है। जिस प्रकार दुष्ट घोड़ा इधर उधर दौड़ता है, उसी तरह यह मन भी ज्ञान रूप लगाम के बिना इधर उधर चक्कर मारता फिरता है। ऐसे इस मन को धर्म रूप शिक्षा से जातिवंत घोड़े की तरह मैंने निग्रह कर रक्खा है। इसी तरह सब मुनियों को चाहिए, कि वे ज्ञान रूप लगाम से इस मन को निग्रह करते रहें।

सच्चा तहेव मोसा य: सच्चामोस तहेव य ।
चउत्थी असच्चमोसा उ: मणगुत्ती चउव्विहा ॥३॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (मणगुत्ती) मन गुप्ति (चउव्विहा) चार प्रकार की है। (सच्चा) सत्य (तहेव) वैसे ही (मोसा) मृषा (य) और (सच्चामोसा) सत्य-मृषा (य) और (तहेव) वैसे ही (चउत्थी) चौथी (असच्चमोसा) असत्यामृषा है।

भावार्थः--हे गौतम ! मन चारों ओर घूमता रहता है। (१) सत्य विषय में; (२) असत्य विषय में; (३) कुछ सत्य और कुछ असत्य विषय में; (४) सत्य भी नहीं, असत्य भी नहीं ऐसे सत्यमृषा विषय में प्रवृत्ति करता है। जब यह मन असत्य,

कुछ सत्य और कुछ असत्य, इन दो विभागों में प्रवृत्ति करता है तो महान् अनर्थों को उपार्जन करता है। उन अनर्थों के भार से आत्मा अधोगति में जाती है। अतएव असत्य और मिश्र की ओर घूमते हुए इस मन को निग्रह कर के रखना चाहिए।

संरंभसमारंभे; आरंभम्मि तहेव य।
मणं पवत्तमाणं तु; निअत्तिज्ज जयं जई ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जयं) यत्नवान् (जई) यति (संरंभसमारंभे) किसी को मारने के सम्बन्ध में और पीड़ा देने के सम्बन्ध में (य) और (तहेव) वैसे ही (आरंभम्मि) हिंसक परिणाम के विषय में (पवत्तमाणं तु) प्रवृत्त होते हुए (मणं) मन को (निअत्तिज्ज) निवृत्त करना चाहिए।

भावार्थः-हे गौतम! यत्नवान साधु हो, या गृहस्थ हो, चाहे जो हो, किन्तु मन के द्वारा कभी भी ऐसा विचार तक न करे, कि अमुक को मार डालूँ या उसे किसी तरह पीड़ित कर दूँ। तथा उसका सर्वस्व नष्ट कर डालूँ। क्योंकि

---

(१) नियत्तिज्ज-ऐसा भी कहीं कहीं आता है, ये दोनों शुद्ध हैं। क्योंकि क. ग. च. द. आदि वर्णों का लोप करने से "अ" अवशेष रह जाता है। उस जगह 'अवर्णो य श्रुतिः" इस सूत्र से "अ" की जगह "य" का आदेश होता है ऐसा अन्यत्र भी समझ लें।

मन के द्वारा ऐसा विचार मात्र कर लेने से वह आत्मा महा पातकी बन जाती है। अतएव हिंसक अशुभ परिणामों की ओर जाते हुए इस मन को पीछा घुमाओ, और निग्रह कर के रक्खो। इसी तरह कर्म बन्धने की ओर घूमते हुए, वचन और काया को भी निग्रह करके रक्खो।

वत्थगंधमलंकारं; इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति; न से चाइ ति वुच्चइ ॥५॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (वत्थगंधमलंकारं) वस्त्र, सुगंध, भूषण (इत्थीओ) स्त्रियों (य) और (सयणाणि) शैया वगैरह को (अच्छंदा) पराधीन होने से (जे) जो (न) नहीं (भुंजंति) भोगते हैं (से) वे (चाइ) त्यागी (न) नहीं (त्ति) ऐसा (वुच्चइ) कहा है।

भावार्थः-हे आर्य! सम्पूर्ण परित्याग अवस्था में, या गृहस्थ की सामायिक अथवा पौषध अवस्था में, अथवा त्याग होने पर कई प्रकार के बढ़िया वस्त्र, सुगंध, इत्र, आदि भूषण वगैरह एवं स्त्रियों और शैया आदि के सेवन करने की जो मन द्वारा केवल इच्छा मात्र ही करता है, परन्तु उन वस्तुओं को पराधीन होने से भोग नहीं सकता है, तदपि ऐसी इच्छा करने वाले को त्यागी नहीं कहते हैं।

जे य कंते पिए भोए; लद्धे विपिट्ठि कुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए; से हु चाइ ति वुच्चइ ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (कंते) सुन्दर ऐसे (पिए) मन मोहक (लद्धे) पाये हुए (भोए) भोगों को (जे)

जो (विपिट्ठिकुव्वइ) पीठ दे देवें, यही नहीं, जो (भोए) भोग (साहीणे) स्वाधीन हैं उन्हें भी (चयई) छोड़ देता है। (हु) निश्चय (से) वह (चाइ) त्यागी है (त्ति) ऐसा (वुच्चइ) कहते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! जो गृहस्थाश्रम में रह रहा है, उसको सुन्दर और प्रिय भोग प्राप्त होने पर भी उन भोगों से उदासीन रहता है, अर्थात् अलिप्त रहता हुआ उन भोगों को पीठ दे देता है, यही नहीं, स्वाधीन होते हुए भी उन भोगों का परित्याग करता है। वही निश्चय रूप से सच्चा त्यागी है ऐसा ज्ञानी जन कहते हैं।

समाए पेहाए परिव्वयंतो;
सिया मणो निस्सरई बहिद्धा।
न सा महं नो वि अहं पि तीसे;
इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (समाए) समभाव से (पेहाए) देखता हुआ जो (परिव्वयंतो) सदाचार सेवन में रमण करता है। उस समय (सिया) कदाचित् (मणो) मन उसका (बहिद्धा) संयम जीवन से बाहर (निस्सरई) निकल जाय तो विचार करे, कि (सा) वह सम्पत्ति (महं) मेरी (न) नहीं है। और (अहं पि) मैं भी (तीसे) उस का (नो वि) नहीं हूँ। (इच्चेव) इस प्रकार विचार कर (ताओ) उस सम्पत्ति से (रागं) स्नेह भाव को (विणएज्ज) दूर करना चाहिए।

भावार्थः- हे आर्य ! सभी जीवों पर समदृष्टि रख कर आत्मिक ज्ञानादि गुणों में रमण करते हुए भी प्रमाद वश यह मन कभी कभी संयमी जीवन से बाहर निकल जाता है; क्योंकि हे गौतम ! यह मन बड़ा चंचल है, वायु की गति से भी अधिक गतिवान् है, अतः जब संसार के मनमोहक पदार्थों की ओर यह मन चला जाय, उस समय यों विचार करना चाहिए, कि मन की यह धृष्टता है, जो सांसारिक प्रपंच की ओर घूमता है। स्त्री, पुत्र, धन वग़ैरह सम्पत्ति मेरी नहीं है । और मैं भी उन का नहीं हूँ । ऐसा विचार कर उस सम्पत्ति से स्नेह भाव को दूर करना चाहिए । जो इस प्रकार मन को निग्रह करता है, वही उत्तम मनुष्य है ।

पाणिवहमुसावाए अदत्तमेहुण परिग्गहा विरओ ।
राइभोयणविरओ; जीवो होइ अणासवो ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जीवो) जो जीव (पाणिवहमुसावाए) प्राणवध, मृषावाद (अदत्तमेहुणपरिग्गाह) चोरी, मैथुन और ममत्व से (विरओ) विरक्त रहता है । और (राइभोयण विरओ) रात्रि भोजन से भी विरक्त रहता है, वह (अणासवो) अनाश्रवी (होइ) होता है

भावार्थ-हे गौतम ! आत्मा ने चाहे जिस जाति व कुल में जन्म लिया हो, अगर वह हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, ममत्व और रात्रि भोजन से पृथक् रहती हो तो वही आत्मा अनाश्रव [Free from the influx of karma] होती है । अर्थात्-उसके भावी नवीन पाप रुक जाते हैं । और जो पूर्व भवों के संचित कर्म हैं, वे यहाँ भोग करके नष्ट कर दिये जाते हैं ।

जहा महातलागस्स; सन्निरुद्धे जलागमे ।
उस्सिंचणाए तवणाए; कमेणं सोसणा भवे ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (महा-तलागस्स) बड़े भारी एक तालाव के (जलागमे) जल के आने के मार्ग को (सन्निरूद्धे) रोक देने पर, फिर उस में का रहा हुआ पानी (उस्सिंचणाए) उलीचने से तथा (तवणाए) सूर्य के आतप से (कमेणं) क्रमशः (सोसणा) उस का शोषण (भवे) होता है ।

भावार्थः-हे आर्य ! जिस प्रकार एक बड़े भारी तालाव के जल आने के मार्ग को रोक देने पर नवीन जल उस ता-लाव में नहीं आ सकता है । फिर उस तालाव में रहे हुए जल को किसी प्रकार उलीच कर बाहर निकाल देने से अथवा सूर्य के आतप से क्रमशः वह सरोवर सूख जाता है । अर्थात् फिर उस तालाव में पानी नहीं रह सकता है ।

एवं तु संजयस्सावि; पावकम्मनिरासवे ।
भवकोडिसंचियं कम्मं; तवसा निज्जरिज्जइ ॥१०॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (एवं) इस प्रकार (पाव-कम्मनिरासवे) नवीन पाप कर्मों का आना रुक गया है, ऐसे (संजयस्सावि) संयमी जीवन बिताने वाले के (भव-कोडिसंचियं) करोड़ों भवों के पूर्वोपार्जित (कम्मं) कर्मों को (तवसा) तप द्वारा (निज्जरिज्जइ) क्षय करते हैं ।

भावार्थः-हे गौतम ! जैसे तालाव में नवीन आते हुए पानी को रोक कर पहले के पानी को उलीचने से तथा आ-

तप से उसका शोषण हो जाता है। इसी तरह संयमी जीवन बिताने वाला यह जीव भी हिंसा, झूँठ, चोरी, व्यभिचार, और ममत्व द्वारा आते हुए पाप को रोक कर, जो करोड़ों भवों में पहले संचित किये हुए कर्म हैं उन को तपस्या द्वारा क्षय कर लेता है

सो तवो दुविहो वुत्तो; बाहिरब्भिंतरो तहा ।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो; एवमब्भिंतरो तवो ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (सो) वह (तवो) तप (दुविहो) दो प्रकार का (वुत्तो) कहा गया है। (बाहिरब्भिंतरो तहा) बाह्य तथा आभ्यन्तर (बाहिरो) बाह्य तप (छव्विहो) छः प्रकार का (वुत्तो) कहा है। (एवं) इसी प्रकार (अब्भिंतरो) आभ्यन्तर (तवो) तप भी है।

भावार्थः–हे आर्य ! जिस तप से, पूर्व संचित कर्म नष्ट किये जाते हैं, वह तप दो प्रकार का है। एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। बाह्य के छः प्रकार हैं। इसी तरह आभ्यन्तर के भी छः प्रकार हैं।

अणसणमुणोयरिया;
भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया;
य बज्झो तवो होइ ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! बाह्य तप के छः भेद यों हैं:-(अणसणमुणोयरिया) अनशन, ऊनोदरिका (य)

और (भिक्खायरिया) भिक्षाचर्या (रसपरिच्चाओ) रस-परित्याग (कायकिलेसो) काय क्लेश (य) और (संलीणया) नो-इन्द्रियों को वश में करना। यह छः प्रकार का (बज्झो) बाह्य (तवो) तप (होइ) है।

भावार्थः--हे गौतम ! एक दिन, दो दिन यों छः छः महीने तक भोजन का परित्याग करना, या सर्वथा प्रकार से भोजन को परित्याग के संथारा करले उसे अनशन [Giving up food and water for some time or permanently] तप कहते हैं। भूख सहन कर कुछ कम खाना, उसको ऊनोदरी तप कहते हैं। अनैमितिक भोजी हो कर नियमानुकूल माँग करके भोजन खाना वह भिक्षाचर्या नाम का तप है। घी, दूध, दही, तेल, और मिष्टान्न आदि का परित्याग करना, वह रस परित्याग तप है। शीत व ताप आदि को सहन करना वह कायक्लेश नाम का तप है। और पाँचों इन्द्रियों को वश में करना एवं क्रोध, मान, माया, लोभ पर विजय प्राप्त करना, मन वचन काया के अशुभ योगों को रोकना यह छठा 'संलीनता तप है। इस तरह बाह्य तप करके आत्मा अपने पूर्व संचित कर्मों का क्षय कर सकती है।

पायच्छित्त विणओ; वेयावच्चं तहेव सज्झाओ; ।
झाणं च विउस्सग्गो; एसो अब्भितरो तवो ॥१३॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! आभ्यन्तर तप के छः भेद यों हैं। (पायच्छित्तं) प्रायश्चित (विणओ) विनय (वेयावच्चं) वैयावृत्य (तहेव) वैसे ही (सज्झाओ) स्वाध्याय (झाणो) ध्यान (च) और (विउस्सग्गो) व्युत्सर्ग (एसो)

यह (अब्भिंतरो) आभ्यन्तर (तवो) तप है।

भावार्थः-हे आर्य! यदि भूल से कोई गलती हो गयी हो तो उसकी आलोचक के पास आलोचना करके शिक्षा ग्रहण करना, इस को प्रायश्चित तप कहते हैं। विनम्र भावों मय अपना रहन सहन बना लेना, यह विनय तप कहलाता है। सेवा धर्म के महत्व को समझकर सेवा धर्म का सेवन करना वैयावृत्य नामक तप है, इसी तरह शास्त्रों का मनन पूर्वक पठन पाठन करना स्वाध्याय तप है। शास्त्रों में बताये हुए तत्वों पर बारीक दृष्टि से उनका मनन पूर्वक चिन्तवन करना ध्यान तप कहलाता है, और वीरासन, लकुण्डासन, गोदुहासन आदि आसन करना, यह छठा व्यूत्सर्ग तप है। यों ये छः प्रकार के आभ्यन्तर तप हैं। इन बारह प्रकार के तप में से, जितने भी बन सकें, उतने प्रकार के तप करके पूर्व संचित करोड़ों जन्मों के कर्मों को यह जीव सहज ही में नष्ट कर सकता है।

रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं;
अकालिअं पावइ से विणासं।
रागाउरे से जह वा पयंगे;
आलोअलोले समुवेइ मच्चुं ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जो) जो प्राणी (रूवेसु) रूप देखने में (गिद्धिं) गृद्धि को (उवेइ) प्राप्त होता है (से) वह (अकालिअं) असमय (तिव्वं) शीघ्र ही (विणासं) विनाश को (पावइ) पाता है (जह वा) जैसे (आलो-अलोले) देखने में लोलुप (से) वह (पयंगे) पतंग (राग-

उरे) रागातुर (मच्चुं)मृत्यु को (समुवेइ) प्राप्त होता है।

भावार्थः--हे गौतम ! जैसे देखने का लोलुपी पतंग जलते हुए दीपक की लौ पर गिर कर अपनी जीवन लीला समाप्त कर देता है। वैसे ही जो आत्मा इन चक्षुओं के वश-वर्ती हो विषय सेवन में अत्यन्त लोलुप हो जाती है, वह शीघ्र ही असमय में अपने प्राणों से हाथ धो बैठती है।

सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं;
अकालिअं पावइ से विणासं।
रागाउरे हरिणमिए व्व मुद्धे;
सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (व्व) जैसे (रागाउरे) रागातुर (मुद्धे) मुग्ध (सद्दे) शब्द के विषय से(अतित्ते) अतृप्त (हरिणमिए) हरिण है वह (मच्चुं) मृत्यु को (समुवेइ) प्राप्त होता है; वैसे ही (जो) जो आत्मा (सद्देसु) शब्द विषयक (गिद्धिं) गृद्धि को (मुवेइ) प्राप्त होती है (से) वह (अकालिअं) असमय में (तिव्वं) शीघ्र ही (विणासं) विनाश को (पावइ) पाती है

भावार्थ.-हे आर्य ! राग भाव में लवलीन, हित अहित तक का अनभिज्ञ, गान विषयक विषय में अतृप्त ऐसा जो हिरण है वह, केवल श्रोतेन्द्रिय के वशवर्ती हो कर अपना प्राण खो बैठता है। उसी तरह जो आत्मा श्रोतेन्द्रिय के विषय में लोलुप होती है, वह शीघ्र ही असमय में मृत्यु को प्राप्त हो जाती है।

गंधेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं;
अकालिअं पावइ से विणासं ।
रागाउरे ओसहिगंध गिद्धे;
सप्पे बिलाओ विव निक्खमंते ॥१६॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (ओसहिगंध गिद्धे) नाग दमनी औषध की गंध में मग्न जो (रागाउरे) रागतुर (सप्पे) सर्प (बिलाओ) बिल से बाहर (निक्खमंते) निकलने पर नाश हो जाता है (विव) ऐसे ही (जो) जो जीव (गंधेसु) गंध में (गिद्धिं) गृद्धिपने को (उवेइ) प्राप्त होता है (से) वह (अकालिअं) असमय ही में (तिव्वं) शीघ्र (विणासं) विनाश को (पावइ) प्राप्त होता है ।

भावार्थ-हे गौतम ! जैसे नागदमनी गंध का लोलुप ऐसा जो रागतुर सर्प है, वह अपने बिल से बाहर निकलने पर मृत्यु को प्राप्त होता है । वैसे ही जो जीव इस गंध विषयक पदार्थों में लीन हो जाता है, वह शीघ्र ही असमय में अपनी आयु का अन्त कर बैठता है ।

रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं;
अकालिअं पावइ से विणासं ।
रागाउरे बडिस विभिन्नकाए;
मच्छे जहा आमिस भोग गिद्धे ॥१७॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (आमिस-भोगगिद्धे) माँस भक्षण के स्वाद में लोलुप ऐसा जो (रागा-उरे) रागातुर (मच्छे) मच्छ (बडिसविभिन्नकाए) माँस

या आटा लगा हुआ ऐसा जो तीक्ष्ण काँटा उस से विंधकर नष्ट हो जाता है। ऐसे ही (जो) जो जीव (रसेसु) रस में (गिद्धिं) गृद्धिपन को (उवेइ) प्राप्त होता है, (से) वह (अकालिअं) असमय में ही (तिव्वं) शीघ्र (विणासं) विनाश को (पावइ) प्राप्त होता है।

भावार्थः-हे गौतम! जिस प्रकार मांस भक्षण के स्वाद में लोलुप जो रागातुर मच्छ है वह मरणावस्था को प्राप्त होता है। ऐसे ही जो आत्मा इस रसेन्द्रिय के वशवर्ती हो कर अत्यन्त गृद्धिपन को प्राप्त होती है वह असमय ही में शीघ्र परलोक गामी बन जाती है।

फासस्स जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं;
अकालिअं पावइ से विणासं।
रागाउरे सीयलजलावसन्ने;
गाहग्गहीए महिसे व रण्णे ॥१८॥

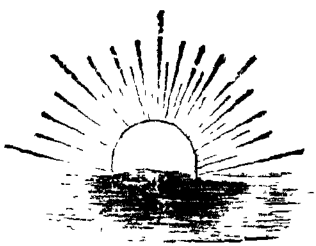
अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (व) जैसे (रण्णे) अरण्य में (सीयलजलावसन्ने) शीतल जल में बैठे रहने का प्रलोभी ऐसा जो (रागाउरे) रागातुर (महिसे) भैंसा (गाहग्गहीए) मगर के द्वारा पकड़ लेने पर मारा जाता है, ऐसे ही (जो) मनुष्य (फासस्स) त्वचा विषयक विषय के (गिद्धिं) गृद्धिपन को (उवेइ) प्राप्त होता है (से) वह (अकालिअं) असमय ही में (तिव्वं) शीघ्र (विणासं) विनाश को (पावइ) पाता है।

भावार्थः-जैसे बड़ी भारी नदी में त्वचेन्द्रिय के वश-वर्ती हो कर और शीतल जल में पैठकर आनंद मानने वाला

वह रागातुर भैंसा मगर से जब घेरा जाता है, तो सदा के लिए अपने प्राणों से हाथ धो बैठता है। ऐसे ही जो मनुष्य अपनी त्वचेन्द्रिय जन्य विषय में लोलुप होता है, वह शीघ्र ही असमय में नाश को प्राप्त हो जाता है

हे गौतम ! जब इस प्रकार एक एक इन्द्रिय के वशवर्ती हो कर भी ये प्राणी अपना प्राणान्त कर बैठते हैं, तो भला उन की क्या गति होगी ? जो पाँचों इन्द्रियों को पाकर उनके विषय में लोलुप हो रहे हैं। अतः पाँचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना ही मनुष्य मात्र का परम कर्त्तव्य और श्रेष्ठ धर्म है।

॥इति निर्ग्रन्थ-प्रवचनस्य पंचदशोऽध्यायः॥



अध्याय सोलहवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

समरेसु अगारेसु; संधीसु य महापहे ।
एगो एगित्थिए सद्धिं; णेव चिट्ठे ण संलवे ॥ १ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (समरेसु) लुहार की शाला में (अगारेसु) घरों में (संधीसु) दो मकानों की बीच की संधि में (य) और (महापहे) मोटे पंथ में (एगो) अकेला (एगित्थिए) अकेली स्त्री के (सद्धिं) साथ (णेव) न तो (चिट्ठे) खड़ा ही रहे और (ण) न (संलवे) वार्तालाप करे ।

भावार्थः--हे गौतम ! लुहार की शून्य शाला में, या पड़े हुए खण्डहरों में, तथा दो मकानों के बीच की संधि में और जहाँ अनेकों मार्ग आकर मिलते हों वहाँ अकेला पुरुष अकेली औरत के साथ न कभी खड़ा ही रहे और न कभी कोई उससे वार्तालाप ही करे ।

साणं सूइअं गाविं; दित्तं गोणं हयं गयं ।
संडिब्भं कलहं जुद्धं; दूरओ परिवज्जए ॥ २ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (साणं) श्वान (सूइअं) प्रसूता (गाविं) गो (दित्तं) मतवाला (गोणं) बैल

(हयं) घोड़ा (गयं) हाथी, इन को और (संडिब्भं) बालकों के क्रीड़ास्थल (कलहं) वाक्युद्ध की जगह (जुद्धं) शस्त्र युद्ध की जगह आदि को (दूरओ) दूर ही से (परिवज्जए) छोड़ देना चाहिए।

भावार्थः--हे आर्य ! जहाँ श्वान, प्रसूता गाय, मतवाला बैल, हाथी, घोड़े खड़े हों या परस्पर लड़ रहे हों वहाँ ज्ञानी जन को नहीं जाना चाहिए। इसी तरह जहाँ बालक खेल रहे हों। या मनुष्यों में परस्पर वाक्-युद्ध हो रहा हो, अथवा शस्त्र-युद्ध हो रहा हो, ऐसी जगह पर जाना बुद्धिमानों के लिए दूर से ही त्याज्य है।

एगया अचेलए होइ; सचेले आवि एगया।
एअं धम्महियंणच्चा; णाणी णो परिदेवए ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (एगया) कभी (अचेलए) वस्त्र रहित (होइ) हो (एगया) कभी (सचेलेआवि) वस्त्र सहित हो, उस समय समभाव रखना (एअं) यह (धम्महियं) धर्म हितकारी (णच्चा) जान कर (णाणी) ज्ञानी (णो) नहीं (परिदेवए) खेदित होता है।

भावार्थः--हे गौतम ! कभी ओढ़ने को वस्त्र हो या न हो, उस अवस्था में समभाव से रहना, बस इसी धर्म को हितकारी जान कर योग्य वस्त्रों के होने पर अथवा वस्त्रों के बिलकुल अभाव में या फटे टूटे वस्त्रों के सद्भाव में ज्ञानी जन कभी खेद नहीं पाते।

अक्कोसेज्जा परे भिक्खुं; न तेसिं पडिसंजले।
सरिसो होइ बालाणं; तम्हा भिक्खू न संजले ॥४॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (परे) कोई दूसरा (भिक्खु) भिक्षुक का (अक्कोसेज्जा) तिरस्कार करे (तेसिं) उस पर वह (न) न (पडिसंजले) क्रोध करे, क्योंकि क्रोध करने से (बालाणं) मूर्ख के (सरिसो) सदृश्य (होइ) होता है (तम्हा) इसलिए (भिक्खू) भिक्षु (न) न (संजले) क्रोध करे।

भावार्थः-हे आर्य ! भिक्षु या साधु या ज्ञानी वही है, जो दूसरों के द्वारा तिरस्कारित होने पर भी उन पर बदले में क्रोध नहीं करता। क्योंकि क्रोध करने से ज्ञानी जन भी मूर्ख के सदृश्य कहलाता है। इसलिए बुद्धिमान् श्रेष्ठ मनुष्य को चाहिए कि, वह क्रोध न करे।

समणं संजयं दंतं; हणेज्जा को वि कत्थइ।
नत्थि जीवस्स नासो त्ति; एवं पेहिज्ज संजए ॥५॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (को वि) कोई भी मनुष्य (कत्थइ) कहीं पर (संजयं) जीवों की रक्षा करने वाले (दंतं) इन्द्रियों को दमन करने वाले ऐसे (समणं) तपस्वियों को (हणेज्जा) ताड़ना करे, उस समय (जीवस्स) जीव का (नासो) नाश (नत्थि) नहीं है (एवं) इस प्रकार (संजए) वे तपस्वी (पेहिज्ज) विचार करें।

भावार्थः-हे गौतम ! सम्पूर्ण जीवों की रक्षा करने वाले तथा इन्द्रिय और मन को जीतने वाले, ऐसे तपस्वी ज्ञानी जनों को कोई मूर्ख मनुष्य कहीं पर ताड़ना आदि करे तो उस समय वे ज्ञानी यों विचार करे, कि जीव का तो कोई नाश

होता ही नहीं है। फिर किसी के ताड़ने पर व्यर्थ ही क्रोध क्यों किया जाना चाहिए।

बालाणं अकामं तु; मरणं असइं भवे।
पंडिआणं सकामंतु; उक्कोसेणं सइं भवे ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (बालाणं) अज्ञानियों का (अकामं) निष्काम (मरणं) मरण (तु) तो (असइं) बार बार (भवे) होता है। (तु) और (पंडिआणं) पण्डितों का (सकामं) इच्छा सहित (मरणं) मरण (उक्कोसेणं) उत्कृष्ट (सइं) एक बार (भवे) होता है।

भावार्थ --हे गौतम! दुष्कर्म करने वाले अज्ञानियों को तो बार बार जन्मना और मरना पड़ता है। और जो ज्ञानी हैं वे ज्ञान पूर्वक सदाचार मय अपना जीवन बना कर मरते हैं, वे एक ही बार में मुक्ति धाम को पहुँच जाते हैं। या सात आठ भव से तो ज़्यादा जन्म मरण करते ही नहीं है।

सत्थगहणं विसभक्खणं च; जलणं च जलप्पवेसोय।
अणायार भंडसेवी; जम्मणमरणाणि बंधंति ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! जो आत्मघात के लिए (सत्थगहणं) शस्त्र ग्रहण करे (च) और (विसभक्खणं) विष भक्षण करे (च) और (जलणं) अग्नि में प्रवेश करे, (जलप्पवेसो) जल में प्रवेश करे (य) और (अणायार-भंडसेवी) नहीं सेवन करने योग्य बातों की सामग्री की इच्छा

करे। ऐसा करने से (जम्मणमरणाणि) अनेकों जन्म मरण हो ऐसा कर्म (बंधंति) बांधता है।

भावार्थः--हे गौतम ! जो अपनी आत्म-हत्या करने के लिए, तलवार, बरछी, कटारी, आदि शस्त्र का प्रयोग करे। या अफ़ीम, संखिया, मोरा, वछनाग, हिरकणी आदि का उपयोग करे, अथवा अग्नि में पड़ कर, या अग्नि में प्रवेश कर या कुआ, बावड़ी, नदी, तालाब में गिर कर मरे तो उनका यह मरण अज्ञान पूर्वक है। इस प्रकार मरने से अनेक जन्म और मरणों की वृद्धि के सिवाय और कुछ नहीं होता है। और जो मर्यादा के विरुद्ध अपने जीवन को कलुषित करने वाली सामग्री ही को प्राप्त करने के लिए रात दिन जुटा रहता है, ऐसे पुरुष की आयुष्य पूर्ण होने पर भी उसका मरण आत्म-हत्या के समान ही है।

अह पंचहिं ठाणेहिं; जहिं सिक्खा न लब्भई।
थंभा कोहा पमाएणं; रोगेणालस्सएण य ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (अह) उसके बाद (जेहिं) जिन (पंचहिं) पाँच (ठाणेहिं) कारणों से (सिक्खा) शिक्षा (न) नहीं (लब्भई) पाता है, वे यों हैं। (थंभा) मान से (कोहा) क्रोध से (पमाएणं) प्रमाद से (रोगेणा-लस्सएणय) रोग से और आलस से।

भावार्थः-हे आर्य ! जिन पाँच कारणों से इस आत्मा को ज्ञान प्राप्त नहीं होता है, वे यों हैः-क्रोध करने से, मान करने से, किये हुए कण्ठस्थ ज्ञान का स्मरण नहीं करके नवीन ज्ञान सीखते जाने से, रोगी अवस्था से और आलस से।

अह अट्ठहिं ठाणेहिं; सिक्खासीले त्ति वुच्चइ।
अहस्सिरे सया दंते; न य मम्ममुदाहरे ॥ ९ ॥
नासीले न विसीले अ; न सिआ अइलोलुए।
अकोहणे सच्चरए; सिक्खासीले त्ति वुच्चइ ॥१०॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (अह) अब (अट्ठहिं) आठ (ठाणेहिं) स्थान, कारणों से (सिक्खासीले) शिक्षा प्राप्त करने वाला होता है (त्ति) ऐसा (वुच्चइ) कहा है। (अहस्सिरे) हँसने वाला न हो (सया) हमेशा (दंते) इन्द्रियों को दमन करने वाला हो, (य) और (मम्मं) मर्म भाषा (न) नहीं (उदाहरे) बोलता हो, (असीले) सर्वथा शील रहित (न) नहीं हो, (अ) और (विसीले) शील दूषित करने वाला (न) न हो (अइलोलुए) अति लोलुपी (न) न (सिआ) हो, (अकोहणे) क्रोध न करने वाला हो (सच्चरए) सत्य में रत रहता हो, वह (सिक्खासीले) ज्ञान प्राप्त करने वाला होता है (ति) ऐसा (वुच्चइ) कहा है।

भावार्थः-हे गौतम ! अगर किसी को ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा हो तो, वे विशेष हँसे न, सदैव खेल नाटक वगैरह देखने आदि के विषयों से इन्द्रियों का दमन करते रहे, किसी की मार्मिक बात को प्रकट न करे, शीलवान् रहे, अपना आचार विचार शुद्ध रक्खे, अति लोलुप से सदा दूर रहे, क्रोध न करे, और सत्य का सदैव अनुयायी बना रहे, इस प्रकार रहने से ज्ञान की विशेष प्राप्ति होती रहती है।

जे लक्खणं सुविण पउंजमाणे;
निमित्तकोऊहलसंपगाढे ।

कुहेडविज्जासवदारजीवी ;
न गच्छई सरणं तम्मि काले ॥ ११ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जे) जो साधु हो कर (लक्खणं) स्त्री, पुरुष के हाथादि की रेखाओं के लक्षण और (सुविण) स्वप्न का फलादेश बताने का (पउंजमाणे) प्रयोग करते हों एवं (निमित्तकोऊहलसंपगाढे) भूकम्पादि बताने तथा कौतूहल करने में, या पुत्रोत्पत्ति के साधन बताने में आसक्त हो रहा हो, इसी तरह (कुहेडविज्जासवदारजीवी) मंत्र, तंत्र, विद्या रूप आश्रव के द्वारा जीवन निर्वाह करता हो, उसके (तम्मि काले) कर्मोदय काल में (सरणं) दुख से बचने के लिए किसी की शरण (न) नहीं (गच्छई) प्राप्त होती है।

भावार्थः--हे गौतम ! जो सब प्रपंच छोड़ करके साधु तो हो गया है मगर फिर भी वह स्त्री पुरुषों के हाथ व पैरों की रेखाएँ एवं तिल, मस आदि के भले बुरे फल बताता है, या स्वप्न के शुभाशुभ फलादेश को जो कहता है, और भूकम्पादि एवं पुत्रोत्पत्ति के साधन बताता है, इसी तरह मंत्र तंत्रादि विद्या रूप आश्रव के द्वारा जीवन का निर्वाह करता है तो उस के अन्त समय में, जब वे कर्म फल स्वरूप में आकर खड़े होंगे उस समय उसके कोई भी शरण नहीं होंगे, अर्थात् उस समय उसे दुख से कोई भी नहीं बचा सकेगा।

पडंति नरए घोरे; जे नरा पावकारिणो।
दिव्वं च गइं गच्छंति; चरिता धम्ममारियं ॥१२॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (नरा) मनुष्य

(पावकारिणो) पाप करने वाले हैं । वे (घोरे) महा भयंकर (नरए) नरक में (पडंति) जा कर गिरते हैं । (च) और (आरियं) सदाचार रूप प्रधान (धम्मं) धर्म को जो (चरित्ता) अंगीकार करते हैं, वे मनुष्य (दिव्वं) श्रेष्ठ (गइं) गति को (गच्छंति) जाते हैं ।

भावार्थः--हे आर्य ! जो आत्माएँ मानव जन्म को पा करके हिंसा, झूठ, चोरी, आदि दुष्कृत्य करती हैं वे पापात्माएँ, महाभयंकर जहाँ दुख है ऐसे नरक में जा गिरेंगी। और जिन आत्माओं ने अहिंसा, सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य आदि धर्म को अपने जीवन में खूब संग्रह कर लिया है, वे आत्माएँ यहाँ से मरने के पीछे जहाँ स्वर्गीय सुख अधिकता से होते हैं, ऐसे श्रेष्ठ स्वर्ग में जाती हैं ।

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो;
मोहो हओ जस्स न होइ तएहा ।
तएहा हया जस्स न होइ लोहो;
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥१३॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (जस्स) जिसके (मोहो) मोह (न) नहीं (होइ) है, उसने (दुक्खं) दुख को (हय) नष्ट कर दिया है। और (जस्स) जिसके (तएहा) तृष्णा (न) नहीं (होइ) होती है, उसने (मोहो) मोह को (हओ) नष्ट कर दिया है । और (जस्स) जिसके (लोहो) लोभ(न) नहीं (होइ) है, उसने (तरहा) तृष्णा को (हया) नष्ट किया है। और (जस्स) जिसके (किंचणाइं) धन वगैरह का ममत्व (न) नहीं (होइ) है, उसने (लोहो) लोभ को (हओ) नष्ट कर दिया है ।

भावार्थ-हे गौतम ! जिस के मोह नहीं है, उसने सर्व दुखों का नाश कर डाला है। जिसके तृष्णा नहीं है, उसने मोह का नाश कर दिया है; जिसे लोभ नहीं है उसने तृष्णा को हनन कर दिया है, और जिसे कुछ भी ममत्व नहीं है, उसने लोभ का नाश कर दिया है।

बहुआगमविण्णाणा; समाहिउप्पायगा य गुणगाही।
एएणं कारणेणं; अरिहा आलोयणं सोउं॥ १४॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (बहुआगम विण्णाणा) बहुत शास्त्रों का जानने वाला हो (समाहिउप्पायगा) कहने वाले को समाधि उत्पन्न करने वाला हो (य) और (गुणगाही) गुणग्राही हो (एएणं) इन (कारणेणं) कारणों से (आलोयणं) आलोचना को (सोउं) सुनने के लिए (अरिहा) योग्य है।

भावार्थः-हे आर्य ! आन्तरिक बात उसके सामने प्रकट की जाय जो, कि बहुत शास्त्रों को जानता हो। जो प्रकाशक को शांत्वना देने वाला हो, गुणग्राही हो। उसी के सामने अपने हृदय की बात खुले दिल से करने में कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि इन बातों से युक्त मनुष्य ही आलोचक के योग्य है।

भावणा जोगसुद्धप्पा, जलेणावा व आहिया।
नावा व तीरसम्पन्ना; सव्वदुक्खा तिउट्टइ॥१५॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (भावणा) शुद्ध भावना रूप (जोगसुद्धप्पा) योग से शुद्ध हो रही है आत्मा जिनकी

ऐसे पुरुष (जलेणावा व) नौका के समान जल के ऊपर ठहरे हुए हैं। ऐसा (आहिया) कहा गया है। (नावा) जैसे नौका अनुकूल वायु से (तीरसम्पन्ना) तीर पर पहुँच जाती है (व) वैसे ही, नौका रूप शुद्धात्मा के उपदेश से जीव (सव्वदुक्खा) सर्व दुखों से (तिउट्टइ) मुक्त हो जाते हैं।

भावार्थः--हे गौतम ! शुद्ध भावना रूप ध्यान से हो रही है आत्मा निर्मल जिनकी, ऐसी शुद्धात्माएँ संसार रूप समुद्र में नौका के समान हैं। ऐसा ज्ञानियों ने कहा है। वे नौका के समान शुद्धात्माएँ आप स्वयं तिर जाती हैं। और उनके उपदेश से अन्य जीव भी चारित्रवान् हो कर सर्व दुख रूप संसार समुद्र का अन्त करके उसके परले पार पहुँच जाते हैं।

सवणे नाणे विण्णाणे; पच्चक्खाणे य संजमे।
अणाहए तवे चेव वोदाणे; अकिरिया सिद्धी ॥१६॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! ज्ञानी जनों के संसर्ग से (सवणे) धर्म श्रवण होता है। धर्म श्रवण से (नाणे) ज्ञान होता है। ज्ञान से (विण्णाणे) विज्ञान होता है। विज्ञान से (पच्चक्खाणे) दुराचार का त्याग होता है। (य) और त्याग से (संजमे) संयमी जीवन होता है। संयमी जीवन से (अणाहए) अनाश्रवी होता है (चेव) और अनाश्रवी होने से (तवे) तपवान् होता है। तपवान् होने से (वोदाणे) पूर्व संचित कर्मों का नाश होता है और कर्मों के नाश होने से। (अकिरिया) सावद्य क्रिया रहित होता है। और सावद्य क्रिया रहित होने से (सिद्धी) सिद्धी की प्राप्ति होती है।

भावार्थः--हे गौतम ! सम्यक् ज्ञानियों की संगति से धर्म का श्रवण होता है, धर्म के श्रवण से ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान से विशेष ज्ञान या विज्ञान होता है। विज्ञान से पापों के नहीं करने का प्रत्याख्यान होता है। प्रत्याख्यान से संयमी जीवन की प्राप्ति होती है। संयमी जीवन से अना-श्रव अर्थात् आते हुए नवीन कर्मों की रोक हो जाती है। फिर अनाश्रव से जीव तपवान बनता है। तपवान् होने से पूर्व संचित कर्मों का नाश हो जाता है। कर्मों के क्षय हो जानेसे सावद्य क्रिया का आगमन भी बंद हो जाता है। जब सावद्य क्रिया रुक गयी तो फिर बस, जीव की मुक्ति ही मुक्ति है। यों, सदाचारी पुरुषों की संगति करने से उत्तरोत्तर सद्गुण ही सद्गुण प्राप्त होते हैं। यहाँ तक कि उसकी मुक्ति हो जाती है।

अवि से हासमासज्ज; हंता णंदीति मन्नति।
अलं बालस्स संगेणं; वेरं वड्ढति अप्पणो ॥१७॥

अन्यवार्थः--हे इन्द्रभूति ! (अवि) और जो कुसंग करता है (से) वह (हासमासज्ज) हास्य आदि में आसक्त हो कर (हंता) प्राणियों की हिंसा ही में (णंदीति) आनंद है, ऐसा (मन्नति) मानता है। और उस (बालस्स) अज्ञानी की आत्मा का (वेरं) कर्म बंध (वड्ढति) बढ़ता है।

भावार्थः-हे गौतम ! सत्पुरुषों की संगति करने से इस जीव को गुणों की प्राप्ति होती है। और जो हास्यादि में आ-सक्त हो कर प्राणियों की हिंसा करके आनंद मानते हैं। ऐसे अज्ञानियों की संगति कभी मत करो। क्योंकि ऐसे दुरा-चारियों का संसर्ग शराब पीना, माँस खाना, हिंसा करना

झूठ बोलना, चोरी करना, व्यभिचार का सेवन करना आदि दुष्कर्म बढ़ जाते हैं। और उन दुष्कर्मों से आत्मा को महान् कष्ट होता है। अतः मोक्षाभिलाषियों को अज्ञानियों की संगति कभी भूल कर भी नहीं करनी चाहिए।

आवस्सयं अवस्सं करणिज्जं;
धुवनिग्गहो विसोहियं ।
अज्झयणछक्कवग्गो;
नाओ आराहणामग्गो ॥ १८ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति! (धुवनिग्गहो) सदैव इन्द्रियों को निग्रह करने वाला (विसोहियं) आत्मा को विशेष प्रकार से शोधित करने वाला (नाओ) न्याय के काँटे के समान (आराहणा) जिससे वीतराग के वचनों का पालन हो ऐसा (मग्गो) मोक्ष मार्ग रूप (अज्झयणछक्कवग्गो) छः वर्ग "अध्ययन" हैं, पढ़ने के जिसके ऐसा (आवस्सयं) आवश्यक-प्रतिक्रम (अवस्सं) अवश्य (करणिज्जं) करने योग्य है

भावार्थः--हे गौतम ! हमेशा इन्द्रियों के विषय को रोकने वाला, और अपवित्र आत्मा को भी निर्मल बनाने वाला, न्यायकारी, अपने जीवन को सार्थक करने वाला और मोक्ष मार्ग का प्रदर्शक रूप छः अध्ययन हैं पढ़ने के जिस में ऐसा आवश्यक सूत्र साधु साध्वी तथा गृहस्थों को सदैव प्रातः काल और सायंकाल दोनों समय अवश्य करना चाहिये। जिसके करने से अपने नियमों के विरुद्ध दिन रात भर में भूल से किये हुए कार्यों का प्रायश्चित हो जाता है। हे गौतम! वह आवश्यक यों है।

सावज्जजोगविरई;
उक्कित्तण गुणवओ च पडिवत्ती।
खलियस्स निंदणा;
वणतिगिच्छगुणधारणा चेव ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति! (सावज्जजोगविरई) सावद्य योग से जो निवृत्ति करे (उक्कित्तण) प्रभु की प्रार्थना करे (य) और (गुणवओ) गुणवान् गुरुओं को (पडिवत्ति) विधि पूर्वक नमस्कार करे। (खलियस्स) अपने दोषों का (निंदणा) निरीक्षण कर (वणतिगिच्छ) छिद्र के समान लगे हुए दोषों का प्रायश्चित ग्रहण करता हुआ निवृत्ति रूप ओषधि का सेवन करे (चेव) और (गुणधारणा) अपनी शक्ति के अनुसार त्याग रूप गुणों को धारण करे।

भावार्थः–हे गौतम! जहाँ हरीवनस्पति चींटियाँ कुंथुए बहुत ही छोटे जीव वगैरह न हों ऐसे एकान्त स्थान पर कुछ भी पाप नहीं करना, ऐसा निश्चय करके, कुछ समय के लिए अपने चित्त को स्थिर कर लेना, यह आवश्यक का प्रथम अध्ययन हुआ। फिर प्रभु की प्रार्थना करना, यह द्वितीय अध्ययन है। उसके बाद गुणवान् गुरुओं को विधि पूर्वक हृदय से नमस्कार करना यह तीसरा अध्ययन है। किये हुए पापों की आलोचना करना चौथा अध्ययन और उसका प्रायश्चित ग्रहण करना पांचवां अध्ययन और छठी बार यथा शक्ति त्यागों की वृद्धि करे। इस तरह षडावश्यक हमेशा दोनों समय करता रहे। यह साधु और गृहस्थों का नियम है।

जो समो सव्वभूएसु; तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ; इइ केवली भासियं ॥ २० ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जो) जो मनुष्य (सव्व भूएसु) सम्पूर्ण प्राणी मात्र (तसेसु) त्रस (य) और (थावरेसु) स्थावर में (समो) समभाव रखने वाला है। (तस्स) उसके (सामाइयं) सामायिक (होइ) होती है (इइ) ऐसा (केवली) वीतराग ने (भासियं) कहा है।

भावार्थः-हे गौतम ! जिस मनुष्य का हरीबनस्पति आदि जीवों पर तथा हिलते फिरते प्राणी मात्र के ऊपर सम भाव है अर्थात सूई चुभोने से अपने को कष्ट होता है। ऐसे ही कष्ट दूसरों के लिए भी समझता है। बस, उसी की सामायिक होती है ऐसा वीतरागों ने प्रतिपादन किया है। इस तरह सामायिक करने वाला मोक्ष का पथिक बन जाता है

तिरिणसहस्सा सत्तसयाइं; तेहत्तरिं च ऊसासा।
एस मुहुत्तो दिट्ठो; सव्वेहिं अणंतनाणीहिं ॥ २१ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (तिरिणसहस्सा) तीन हज़ार (सत्तसयाइं) सात सौ (च) और (तेहत्तरिं) तिहत्तर (ऊसासा) उच्छ्वासों का (एस) यह (मुहुत्तो) मुहूर्त होता है। ऐसा (सव्वेहिं) सभी (अणंतनाणीहिं) अनंत ज्ञानियों के द्वारा (दिट्ठो) देखा गया है

भावार्थ-हे गौतम ! ३७७३ तीन हज़ार सात सौ तिहत्तर उच्छ्वासों का समूह एक मुहूर्त होता है। ऐसा सभी अनंत ज्ञानियों ने कहा है।

॥इति निर्ग्रन्थ-प्रवचनस्य-षोडशोऽध्यायः॥

अध्याय सत्रहवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

नेरइया सत्तविहा; पुढवीसु सत्तसू भवे ।
रयणाभसक्कराभा; वालुयाभा य आहिआ ॥ १ ॥
पंकाभा धूमाभा; तम तमतमा तहा ।
इइ नेरइआ एए; सत्तहा परिकित्तिया ॥ २ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (नेरइया) नरक (सत्तसू) सात अलग अलग (पुढवीसु) पृथ्वी में (भवे) होने से (सत्तविहा) सात प्रकार का (आहिआ) कहा गया है। (रयणाभसक्कराभा) रत्न प्रभा, शर्कराप्रभा (य) और (वालुयाभा) बालु प्रभा (पंकाभा) पंक प्रभा (धूमाभा) धूमप्रभा (तमा) तम प्रभा (तहा) वैसे ही (तमतमा) तमतमा प्रभा (इइ) इस प्रकार (एए) ये (नेरइया) नरक (सत्तहा) सात प्रकार के (परिकित्तिआ) कहे गये हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! एक से एक भिन्न होने से नरक को ज्ञानि जन ने सात प्रकार का कहा है। वे इस प्रकार हैं। (१) वैडुर्य रत्न के समान है प्रभा जिस की उसको रत्न प्रभा नाम से पहला नरक कहा है। (२) इसी तरह पाषाण, धूल, कर्दम, धूम्र के समान है प्रभा जिसकी उसको यथा क्रम

शर्करा प्रभा (३) बालुका प्रभा (४) पंक प्रभा और (५) धूम प्रभा कहते हैं। और जहाँ अन्धकार है उसको (६) तम प्रभा कहते हैं। और जहाँ विशेष अन्धकार है उसको (७)तमतमा प्रभा सातवां नरक कहते हैं।

जे केइ बाला इह जीवियट्ठी;
पावाइं कम्माइं करंति रुद्दा।
ते घोररूवे तमिरसंधयारे;
तिव्वाभितावे नरए पडंति ॥ ३ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (इह) इस संसार में (जे) जो (केइ) कितनेक (जीवियट्ठी) पापमय जीवन के अर्थी (बाला) अज्ञानी लोग (रुद्दा) रौद्र (पावाइं) पाप (कम्माइं) कर्मों को (करंति) करते हैं। (ते) वे (घोर-रूवे) अत्यंत भयानक रूप है जिसका और(तमिरसंधयारे) अत्यन्त अन्धकार युक्त, एवं (तिव्वाभितावे) तीव्र है ताप जिसमें ऐसे (नरए) करक में (पडंति) जा गिरते हैं।

भावार्थः--हे गौतम ! इस संसार में कितनेक ऐसे जीव हैं, कि वे अपने पाप मय जीवन के लिए महान् हिंसा आदि पाप कर्म करते हैं। इसीलिए वे महान् भयानक और अत्यन्त अन्धकार युक्त तीव्र सन्ताप दायक नरक में जा गिरते हैं और वर्षों तक अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करते रहते हैं।

तिव्वं तसे पाणिणो थावरे या;
जे हिंसति आयसुहं पडुच्च।
जे लूसए होइ अदत्तहारी;
ण सिक्खति सेय विपस्स किंचि ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (तसे) त्रस (या) और (थावरे) स्थावर (पाणिणो) प्राणियों की (तिव्वं) तीव्रता से (हिंसति) हिंसा करता है, और (आयसुहं) आत्म सुख के (पडुच्च) लिए (जे) जो मनुष्य (लूसए) प्राणियों का उपमर्दक (होइ) होता है । एवं (अदत्तहारी) नहीं दी हुई वस्तुओं का हरण करने वाला (किंचि) थोड़ा सा भी (सेय विपस्स) अंगीकार करने योग्य व्रत के पालन का (ण) नहीं (सिखति) अभ्यास करता है । वह नरक में जा कर दुख उठाता है ।

भावार्थः--हे गौतम ! जो मनुष्य, हलन चलन करने वाले तथा स्थावर जीवों की निर्दयता पूर्वक हिंसा करता है । और जो शारीरिक पौद्गलिक सुखों के लिए जीवों का उप-मर्दन करता है । एवं दूसरों की चीज़े हरण करने ही में अपने जीवन की सफलता समझता है । और किसी भी व्रत को अंगीकार नहीं करता, वह यहाँ से मर कर नरक में जाता है । और स्व-कृत कर्मों के अनुसार वहाँ नाना भाँति के दुख उठाता है ।

छिंदंति बालस्स खुरेण नक्कं;
उठे वि छिंदंति दुवेवि कण्णे ।
जिब्भं विणिक्कस्स विहत्थिमित्तं;
तिक्खाहिं सूलाइ भितावयंति ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! यमराज नरक में (बालस्स) अज्ञानी के (खुरेण) छुरी से (नक्कं) नाक को (छिंदंति) छेदते हैं । (उठेवि) ओठों को भी और (दुवे) दोनों (कण्णे)

कानों को (वि) भी (छिंदंति) छेदते हैं। तथा (विहत्थिभित्तं) बेंत के समान लम्बाई भर (जिब्भं) जिह्वा को (विणिक्कस्स) बाहर निकाल करके (तिक्खाहिं) तीक्ष्ण (सूलाइ) शूलों से (भितावयंति) छेदते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! जो अज्ञानी जीव, हिंसा, झूठ चोरी और व्यभिचार आदि करके नरक में जा गिरते हैं। यमराज उन पापियों के कान नाक और ओठों को छुरी से छेदते हैं। और उनके मुँह में से जिह्वा को बेंत जितनी लम्बाई भर बाहर खींच कर तीक्ष्ण शूलों से छेदते हैं।

ते तिप्पमाणा तलसंपुडं व्व;
राइंदियं तत्थ थणंति बाला।
गलंति ते सोणिअपूयमंसं;
पज्जोइ या खारपइद्धियंगा ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (तत्थ) वहाँ नरक में (ते) वे (तिप्पमाणा) रुधिर झरते हुए (बाला) अज्ञानी (राइंदियं) रात दिन (तलसंपुडं) पवन से प्रेरित ताल वृक्षों के सूखे पत्तों के शब्द के (व्व) समान (थणंति) आक्रन्दन का शब्द करते हैं। (ते) वे नारकीय जीव (पज्जोइया) अग्नि से प्रज्वलित (खारपइद्धियंगा) क्षार से जलाये हुए अंग जिससे (सोणिअपूयमंसं) रुधिर, रसी और मांस (गलंति) झरते रहते हैं।

भावार्थः—हे गौतम ! नरक में गये हुए उन हिंसादि महान् आरम्भ के करने वाले नारकीय जीवों के नाक, कान आदि काटलेने से रुधिर बहता रहता है और वे रात दिन बड़े

आक्रंदन स्वर से रोते हैं। और उस छेदे हुए अंग को अग्नि से जलाते हैं। फिर उसके ऊपर लवणादिक क्षार को छिटकते हैं। जिस से और भी विशेष रुधिर पूय और मांस झरता रहता है।

> रुहिरे पुणो वच्च समुस्सिअंगे;
> भिन्नुत्तमंगे परिवत्तयंता।
> पयंति णं णेरइए फुरंते;
> सजीव मच्छेव अयोकवल्ले ॥ ७ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (पुणो) फिर (वच्च) दुर्गंध वस्तु से (समुस्सिअंगे) लिपटा हुआ है अंग जिनका और (भिन्नुत्तमंगे) सिर है जिनका छेदा हुआ ऐसे नारकीय जीवों का खून निकालते हैं और (रुहिरे) उसी खून के तपे हुए कड़ाहे में उन्हें डाल कर (परिवत्तयंता) इधर उधर हिलाते हुए यमदेव (पयंति) पकाते हैं। तब (णेरइए) नारकीय जीव (अयोकवल्ले) सजीव मच्छी की तरह (फुरंते) तड़फड़ाते हैं।

भावार्थः-हे गौतम! जिन आत्माओं ने शरीर को आराम पहुँचाने के लिए हर तरह से अनेकों प्रकार के जीवों की हिंसा की है, वे आत्माएँ नरक में जा कर जब उत्पन्न होती हैं, तब यमदेव दुर्गन्ध युक्त वस्तुओं से लिपटे हुए उन नारकीय आत्माओं के सिर छेदन कर उन्हीं के शरीर से खून निकाल उन्हें तप्त कड़ाहे में डालते हैं। और उसे खूब ही उबाल करके जलाते हैं। यमदेवों के ऐसा करने पर वे नारकीय आत्माएँ उस तपे हुए कड़ाहे में तप्त तवे पर डाली हुई सजीव मछली की तरह तड़फड़ाती हैं।

णो चेव ते तत्थ मसी भवंति;
ण मिज्जती तिव्वाभि वेयणाए।
तमाणुभागं अणुवेदयंता;
दुक्खंति दुक्खी इह दुक्कडेणं ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (तत्थ) नरक में (ते) वे नारकीय जीव पकाने से (णो चेव) नहीं (मसी भवंति) भस्म होते हैं। और (तिव्वाभिवेयणाए) तीव्र वेदना से (न) नहीं (मिज्जति) मरते है। (दुक्खी) वे दुखी जीव (दुक्कडेणं) अपने किये हुए दुष्कर्मों के द्वारा (तमाणुभागं) उसके फल को (अणुवेदयंता) भोगते हुए (दुक्खंति) कष्ट उठाते हैं।

भावार्थः--हे गौतम ! नारकीय जीव उन यमदेवों के द्वारा पकाये जाने पर न तो वे भस्मीभूत ही होते हैं और न उस महान् भयानक छेदन भेदन तथा ताड़न आदि ही से वे कभी मरते हैं। किन्तु अपने किये हुए दुष्कर्मों के फलों को भोगते हुए बड़े कष्ट से समय बिताते रहते हैं।

अच्छी निमिलियमेत्तं;नत्थि सुहं दुक्खमेव अणुबद्धं।
नरए नेरइयाणं; अहोनिसं पच्चमाणाणं ॥ ९ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (अहोनिसं) रात दिन (पच्चमाणाणं) पचते हुए (नेरइयाणं) नारकीय जीवों को (नरए) नरक में (अच्छी) आँख (निमिलियमेत्तं) टिम टिमावे इतने समय के लिए भी (सुहं) सुख (नत्थि) नहीं है। क्योंकि (दुक्खमेव) दुख ही (अणुबद्धं) अनुबद्ध हो रहा है।

भावार्थः-हे गौतम ! सदैव कष्ट उठाते हुए नारकीय जीवों को एक पल भर भी सुख नहीं है। एक दुख के बाद दूसरा दुख उनके लिए तैयार रहता है

अइसीयं अइउराहं: अइ तराहा अइ खुहा।
अइभयं च नरए नेरयाणं;दुक्खसयाइं अविस्सामं॥१०॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (नरए) नरक में (नेरयाणं) नारकीय जीव (अइसीयं) अति शीत (अइउण्हं) अति उष्ण (अइतण्हा) अति तृष्णा (अइखुहा) अति भूख (च) और (अइभयं) अतिभय (दुक्खसयाइं) सैकड़ों दुख (अविस्सामं) विश्राम रहित भोगते हैं।

भावार्थः-हे गौतम! नरक में रहे हुए जीवों को अत्यन्त ठण्ड उष्ण भूख तृष्णा और भय आदि सैकड़ों दुख एक के बाद एक लगातार रूप से कृत-कर्मों के फल रूप में भोगने पड़ते हैं।

जं सारिसं पुव्वमकासि कम्मं;
तमेव आगच्छति संपराए।
एगंत दुक्खं भवमज्झणित्ता;
वेदंति दुक्खी तमणंतदुक्खं॥११॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जं) जो (कम्मं) कर्म (सारिसं) जैसे (पुव्वं) पूर्व भव में जीव ने (अकासि) किये है (तमेव) वैसे ही, उसके फल (संपराए) संसार में (आगच्छति) प्राप्त होते हैं। (एगंतदुक्खं) केवल दुःख है जिसमें ऐसे नारकीय (भवं) जन्म को (अज्झणित्ता)

उपार्जन करके (दुक्खी) वे दुखी जीव (तं) उस (अर्थात दुक्खं) अपार दुख को (वेदंति) भोगते हैं।

भावार्थः–हे गौतम ! इस आत्मा ने जैसे पुण्य पाप किये हैं; उसी के अनुसार जन्म जन्मान्तर रूप संसार में उसे सुख दुख मिलते रहते हैं। यदि उसने विशेष पाप किये हैं तो जहाँ घोर कष्ट होते हैं ऐसे नारकीय जन्म उपार्जन करके वह उस नरक में जा पड़ती है। और अनंत दुखों को सहती रहती है।

जे पावकम्मेहिं धणं मणूसा;
समाययंती अमइं गहाय।
पहाय ते पासपयट्टिए नरे;
वेराणुबद्धा नरयं उविंति ॥ १२ ॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (मणूसा) मनुष्य (अमइं) कुमति को (गहाय) ग्रहण करके (पावकम्मेहिं) पाप कर्म के द्वारा (धणं) धन को (समाययंती) उपार्जन करते हैं, (ते) वे (नरे) मनुष्य (पासपयट्टिए) कुटुम्बियों के मोह में फंसे हुए होते हैं, वे (पहाय) उन्हें छोड़ कर (वेराणुबद्धा) पाप के अनुबंध करने वाले। (नरयं) नरक में जा कर (उविंति) उत्पन्न होते हैं।

भावार्थः- हे गौतम ! जो मनुष्य पाप बुद्धि से कुटुम्बियों के भरण पोषण रूप मोह-पाश में फँसता हुआ, गरीब लोगों को ठग कर बड़े अन्याय से धन पैदा करता है, वह मनुष्य धन और कुटुम्ब को यहीं छोड़ कर और जो पाप किये हैं उनको अपना साथी बना नरक में जा उत्पन्न होता है।

एयाणि सोच्चा णरगाणि धीरे;
न हिंसए किंचण सव्व लोए।
एगंतदिट्ठी अपरिग्गहेउ;
बुज्झिज्ज लोयस्स वसं न गच्छे ॥१३॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (एगंतदिट्ठी) केवल सम्यक्त्व की है दृष्टि जिन की और (अपरिग्गहेउ) ममत्व भाव रहित ऐसे जो (धीरे) बुद्धिमान् मनुष्य हैं वे (एयाणि) इन (णरगाणि) नरक के दुखों को (सोच्चा) सुन कर (सव्व लोए) सम्पूर्ण लोक में (किंचण) किसी भी प्रकार के जीवों की (न) नहीं (हिंसए) हिंसा करते (लोयस्स) कर्म रूप लोक को (बुज्झिज्ज) जान कर (वसं) उसकी आधीनता में (न) नहीं (गच्छे) जावे।

भावार्थः-हे गौतम ! जिसने सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया है और ममत्व से विमुख हो रहा है। ऐसा बुद्धिमान् तो इस प्रकार के नारकीय दुखों को एक मात्र सुन कर किसी भी प्रकार की कोई हिंसा नहीं करेगा। यही नहीं वह क्रोध, मान, माया, लोभ तथा अहंकार रूप लोक के स्वरूप को समझ कर और उसके आधीन हो कर कभी भी कर्मों के बन्धनों को प्राप्त न करेगा। वह स्वर्ग में जाकर देवता होगा। देवता चार प्रकार के हैं। वे यों हैं:-

देवा चउव्विहा वुत्ता; ते मे कित्तयओ सुण।
भोमेज्जवाणमन्तर; जोइस वेमाणिया तहा ॥ १४ ॥

अन्वयार्थः हे इन्द्रभूति !(देवा) देवता (चउव्विहा)

चार प्रकार के (वुत्ता) कहे हैं। (ते) वे (मे) मेरे द्वारा (कित्तयओ) कहे हुए तू (सुण) श्रवण कर (भोमेज्जवाणमंतर) भवनपति, वाणव्यन्तर (तहा) तथा (जोइस वेमाणिया) ज्योतिषी और वैमानिक देव।

भावार्थः--हे गौतम ! देव चार प्रकार के होते हैं। उन्हें तू सुन। (१) भवनपति (२) वाणव्यन्तर (३) ज्योतिषी और (४) वैमानिक। भवनपति इस पृथ्वी से १०० योजन नीचे की ओर रहते हैं। वाणव्यन्तर १० योजन नीचे रहते हैं। ज्योतिषी देव ७९० योजन इस पृथ्वी से ऊपर की ओर रहते हैं। परन्तु वैमानिक देव तो इन ज्योतिषी देवों से भी असंख्य योजन ऊपर रहते हैं।

दसहा उ भवणवासी; अट्ठहा वणचारिणो।
पंच विहा जोइसिया;दुविहा वेमाणिया तहा ॥१५॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (भवणवासी) भवनपति देव (दसहा) दस प्रकार के होते हैं। और (वणचारिणो) वाणव्यन्तर (अट्ठहा) आठ प्रकार के हैं। (जोइसिया) ज्योतिषी (पंचविहा) पांच प्रकार के होते हैं। (तहा) वैसे ही (वेमाणिया) वैमानिक (दुविहा) दो प्रकार के हैं।

भावार्थः---हे गौतम! भवनपति देव दश प्रकार के हैं। वाणव्यन्तर आठ प्रकार के हैं और ज्योतिषी पांच प्रकार के हैं। वैसे ही वैमानिक देव भी दो प्रकार के हैं। अब भवनपति के दश भेद कहते हैं।

असुरा नाग सुवण्णा; विज्जू अग्गी वियाहिया।
दीवोदहि दिसा वाया; थणिया भवणवासिणो ॥१६॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (असुरा) असुर कुमार (नागसुवण्णा) नाग कुमार, सुवर्ण कुमार (विज्जू) विद्युत कुमार (अग्गी) अग्निकुमार (दीवोदहि) द्वीपकुमार उदधि कुमार (दिसा) दिक्कुमार (वाया) वायुकुमार तथा (थणिया) स्तनित कुमार। इस प्रकार (भवणवासिणो) भवनवासी देव (वियाहिया) कहे गये हैं।

भावार्थः--हे गौतम ! असुरकुमार, नागकुमार सुवर्ण कुमार, विद्युत कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, पवनकुमार और स्तनितकुमार यों ज्ञानियों द्वारा दश प्रकार के भवनपति देव कहे गये हैं। अब आगे आठ प्रकार के वाणव्यन्तर देव यों हैं।

पिसाय भूय जक्खा य;रक्खसा।किन्नरा किंपुरिसा।
महोरगाय गंधव्वा; अट्ठविहा वाणमन्तरा ॥१७॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (वाणमंतरा) वाणव्यन्तर देव (अट्ठविहा) आठ प्रकार के होते है। जैसे (पिसाय) पिशाच (भूय) भूत (जक्खा) यक्ष (य) और (रक्खसा) राक्षस (य) और (किन्नरा) किंनर (किंपुरिसा) किंपुरुष (महोरगा) महोरग (य) और (गंधव्वा) गंधर्व।

भावार्थ–हे गौतम ! वाणव्यन्तर देव आठ प्रकार के हैं। जैसे (१) पिशाच (२) भूत (३) यक्ष (४) राक्षस (५) किन्नर (६) किंपुरुष (७) महोरग और (८) गंधर्व। ज्योतिषी देवों के पाँच भेद यों हैं:—

चन्दा सूराय नक्खत्ता; गहा तारागणा तहा ।
ठिया विचारिणो चेव; पंचहा जोइसालया ॥१८॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जोइसालया) ज्योतिषी देव (पंचहा) पांच प्रकार के हैं। (चन्दा) चन्द्र (सूरा) सूर्य (य) और (नक्खत्ता) नक्षत्र (गहा) ग्रह (तहा) तथा (तारागणा) तारागण । जो (ठिया) अढ़ीद्वीप के बाहर स्थिर हैं। (चेव) और अढ़ीद्वीप के भीतर (विचारिणो) चलते फिरते हैं।

भावार्थः--हे गौतम ! ज्योतिषी देव पाँच प्रकार के हैं। (१) चन्द्र (२) सूर्य (३) ग्रह (४) नक्षत्र और (५) तारागण । ये देव अढ़ीद्वीप के बाहर तो स्थिर रहने वाले हैं और अढ़ीद्वीप के भीतर चलते फिरते हैं। वैमानिक देवों के भेद यों हैं:—

वेमाणिया उ जे देवा; दुविहा ते वियाहिया ।
कप्पोवगा य बोधव्वा; कप्पाईया तहेव य ॥१९॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (जे) जो (देवा) देव (वेमाणियाउ) वैमानिक हैं। (ते) वे (दुविहा) दो प्रकार के (वियाहिया) कहे गये हैं। एक तो (कप्पोवगा) कल्पोत्पन्न (य) और (तहेव य) वैसे ही (कप्पाईया) कल्पातीत (बोधव्वा) जानना।

भावार्थः-हे गौतम ! वैमानिक देव दो प्रकार के हैं। एक तो कल्पोत्पन्न और दूसरे कल्पातीत। कल्पोत्पन्न से ऊपर के देव कल्पातीत कहलाते हैं। और जो कल्पोत्पन्न हैं वे बारह प्रकार के हैं। वे यों हैं:—

कप्पोवगा बारसहा: सोहम्मीसाणगा तहा ।
सणंकुमारमाहिन्दा: बम्भलोगा य लंतगा ॥ २० ॥
महासुक्का सहस्सारा: आणया पाणया तहा ।
आरणा अच्चुया चेव: इइ कप्पोवगा सुरा ॥२१॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (कप्पोवगा) कल्पोत्पन्न देव (बारसहा) बारह प्रकार के हैं (सोहम्मीसाणगा) सुधर्म, ईशान (तहा) तथा (सणंकुमार) सनत्कुमार (माहिन्दा) महेन्द्र (बम्भलोगा) ब्रह्म (य) और (लंतगा) लांतक (महासुक्का) महाशुक्र (सहस्सारा) सहस्रार (आणया) आणत (पाणया) प्राणत (तहा) तथा (आरणा) आरण (चेव) और (अच्चुया) अच्युत, देव लोक (इइ) ये हैं । और इन्हीं के नामों पर से (कप्पोवगा) कल्पोत्पन्न (सुरा) देवों के नाम भी हैं ।

भावार्थः–हे गौतम ! कल्पोत्पन्न देवों के बारह भेद हैं और वे यों हैं—(१) सुधर्म (२) ईशान (३) सनत्कुमार (४) महेन्द्र (५) ब्रह्म (६) लांतक (७) महाशुक्र (८) सहस्रार (९) आणत (१०) प्राणत (११) आरण और (१२) अच्युत ये देवलोक हैं । इन स्वर्गों के नामों पर से ही इन में रहने वाले इन्द्रों के भी नाम हैं । कल्पातीत देवों के नाम यों हैं —

कप्पाईया उ जे देवा: दुविहा ते वियाहिया ।
गेविज्जाणुत्तरा चेव: गेविज्ज नवविहा तहिं ॥२२॥

अन्वयार्थः–हे ! इन्द्रभूति ! (जे) जो (कप्पाईयाउ)

कल्पातीत देव हैं, (ते) वे (दुविहा) दो प्रकार के (वियाहिया) कहे गये हैं। (गेविज्ज) ग्रीवेक(चेव) और (अणुत्तरा) अनुत्तर (तहिं) उस में (गेविज्ज) ग्रीवेक (नवविहा) नव प्रकार के हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! कल्पातीत देव दो प्रकार के हैं। एक तो ग्रीवेक और दूसरे अणुत्तर वैमानिक। जिन में भी ग्रीवेक नौ प्रकार के और अणुत्तर पांच प्रकार के हैं।

हेट्ठिमा हेट्ठिमा चेव, हेट्ठिमा मज्झिमा तहा।
हेट्ठिमा उवरिमा चेव, मज्झिमा हेट्ठिमा तहा॥२३॥
मज्झिमा मज्झिमा चेव, मज्झिमा उवरिमा तहा।
उवरिमा हेट्ठिमा चेव, उवरिमा मज्झिमा तहा॥२४॥
उवरिमा उवरिमा चेव, इय गेविज्जगा सुरा।
विजया वेजयंता य, जयंता अपराजिया॥ २५॥
सव्वट्ठसिद्धगा चेव, पञ्चहाणुत्तरा सुरा।
इइ वेमाणिया एए, ऽणेगहा एवमायओ॥ २६॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (हेट्ठिमा हेट्ठिमा) नीचे की त्रिक का नीचे वाला (चेव) और (हेट्ठिमा मज्झिमा) नीचे की त्रिक का बीच वाला। (तहा) तथा (हेट्ठिमाउवरिमा) नीचे की त्रिक का ऊपर वाला। (चेव) और (मज्झिमा हेट्ठिमा) बीच की त्रिक का नीचे वाला (तहा) तथा (मज्झिमा मज्झिमा) बीच की त्रिक का बीच वाला। (चेव) और (मज्झिमा उवरिमा) बीच की त्रिक का ऊपर वाला (तहा) तथा (उवरिमाहेट्ठिमा) ऊपर की त्रिक का नीचे वाला (चेव) और (उवरिमामज्झिमा) ऊपर की त्रिक का बीच वाला (तहा)

तथा (उवरिमा उवरिमा) ऊपर की त्रिक का ऊपरवाला (इइ) इस प्रकार नौ भेदों से (गेविज्जगा) ग्रीवेक के (सुरा) देवता हैं। (विजया) विजय (वेजयंता) वैजयंत (य) और (जयंता) जयंत (अपराजिया) अपराजित (चेव) और (सव्वत्थसिद्धगा) सर्वार्थसिद्ध ये (पंचहा) पाँच प्रकार के (अणुत्तरा) अनुत्तर विमान के (सुरा) देवता कहे गये हैं। (इइ) इस प्रकार (एए) ये मुख्य मुख्य (वेमाणिया) वैमानिक देवों के भेद कहे गये हैं। और प्रभेद तो (एवमायओ) ये आदि में (अणेगहा) अनेक प्रकार के हैं।

भावार्थ-हे गौतम ! बारह देवलोक से ऊपर नौ ग्रीवेक जो हैं उनके नाम यों हैं। (१) भद्दे (२) सुभद्दे (३) सुजाये (४) सुमाणसे (५) सुदर्शने (६) प्रियदर्शने (७) अमोहे (८) सुपडिभद्दे और (९) यशोधर और पांच अनुत्तर विमान यों हैं:—(१) विजय (२) वैजयंत (३) जयंत (४) अपराजित (५) सर्वार्थसिद्ध; ये सब वैमानिक देवों के भेद बताए गये हैं।

जेसिं तु विउला सिक्खा: मूलियं ते अइच्छिया।
सीलवंता सविसेसा: अदीणा जंति देवयं ॥२७॥

---

(१) किसी एक साहूकार ने अपने तीन लड़कों को एक एक हजार रुपया दे कर व्यापार करने के लिए इतर देश को भेजा। उन में से एक ने तो यह विचार किया कि अपने घर में खूब धन है। फिजूल ही व्यापार कर कौन कष्ट उठावे, अतः ऐशो आराम करके उसने मूल पूंजी को भी खो दिया।

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (जेसिं) जिन्हों ने (विउला) अत्यन्त (सिक्खा) शिक्षा का सेवन किया है। (ते) वे (सीलवंता) सदाचारी (सविसेसा) उत्तरोत्तर गुणों की वृद्धि करने वाले (अदीणा) अदीन-वृत्तिवाले (मूलियं)

दूसरे ने विचार किया, कि व्यापार करके मूल पूंजी तो ज्यों की त्यों कायम रखनी चाहिए। परन्तु जो लाभ हो उसे ऐशो आराम में खर्च कर देना चाहिए। और तीसरे ने विचार किया, कि मूल पूंजी को खूब ही बढ़ा कर घर चलना चाहिए। इसी तरह वे तीनों नियत समय पर घर आये। एक मूल पूंजी को खो कर, दूसरा मूल पूंजी लेकर, और तीसरा मूल पूंजी को खूब ही बढ़ा कर घर आया। इसी तरह इन आत्माओं को मनुष्य-भव रूप मूल धन प्राप्त हुआ है। जो आत्माएं मनुष्य भव रूप मूल धन की उपेक्षा करके खूब पापाचरण करती हैं। वे मनुष्य-भव को खो कर नरक और तिर्यंच योनियों में जाकर जन्म धारण करती हैं। और जो आत्माएं पाप करने से पीछे हटती हैं, वे अपनी मूल पूंजी रूप मनुष्य जन्म ही को प्राप्त होती हैं। परन्तु जो आत्मा अपना वश चलते सम्पूर्ण हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार, ममत्व आदि का परित्याग करके अपने त्याग धर्म में वृद्धि करती जाती हैं। वे मनुष्य-भव रूपी मूल पूंजी से भी बढ़ कर देव-योनि को प्राप्त होती हैं। अर्थात् स्वर्ग में जाकर वे आत्माएं जन्म धारण करती हैं और वहां नाना भांति के सुखों को भोगती हैं।

मूल धन रूप मनुष्य-भव को (अइत्थिया) उल्लंघन कर (देवयं) देव लोक को (जंति) जाते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! इस प्रकार के देव-लोकों में वे ही मनुष्य जाते हैं ? जो सदाचार रूप शिक्षाओं का अत्यन्त सेवन करते हैं। और त्याग धर्म में जिन की निष्ठा दिनों दिन बढ़ती ही जाती है। वे मनुष्य,मनुष्य-भव को त्यागकर स्वर्ग में जाते हैं।

विसालिसेहिं सीलेहिं; जक्खा उत्तर उत्तरा।
महासुक्का व दिप्पंता; मण्णंता अपुणच्चवं ॥ २८ ॥
अप्पिया देवकामाणं, कामरूवविउव्विणो।
उड्ढं कप्पेसु चिट्ठंति; पुव्वा वाससयावहू ॥ २९ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (विसालिसेहिं) विसदृश अर्थात् भिन्न भिन्न (सीलेहिं) सदाचारों से (उत्तरउत्तरा) प्रधान से प्रधान (महासुक्का) महाशुक्ल अर्थात् बिलकुल सफेद चन्द्रमा की (व) तरह (दिप्पंता) देदीप्यमान (अपुणच्चवं) फिर चवना नहीं ऐसा (मण्णंता) मानते हुए (कामरूवविउव्विणो) इच्छित रूप के बनाने वाले (बहू) बहुत (पुव्वावाससया) सैकड़ों पूर्व वर्ष पर्यन्त (उड्ढं) ऊँचे (कप्पेसु) देव लोक में (देवकामाणं) देवताओं के सुख प्राप्त करने के लिए (अप्पिया) अर्पण कर दिये हैं सदाचार रूप बल जिनने ऐसी आत्माएँ (जक्खा) देवता बन कर (चिट्ठंति) रहता है।

भावार्थः-हे गौतम ! आत्मा अनेक प्रकार के सदाचारों का सेवन कर स्वर्ग में जाती है। तब वह वहाँ एक से

एक देदीप्यमान शरीरों को धारण करती है। और वहाँ दस हज़ार वर्ष से लेकर कई सागरोपम तक रहती है। वहाँ ऐसी आत्माएँ देव लोक के सुखों में ऐसी लीन हो जाती है, कि वहाँ से अब आवो वे कभी मरेंगी ही नहीं, इस तरह से वे मान बैठती है।

जहा कुसग्गे उदगं, समुद्देण समं मिणे।
एवं माणुस्सगा कामा, देवकामाण अंतिए ॥२०॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति! (जहा) जैसे (कुसग्गे) घास के अग्रभाग पर की (उदगं) जल की बूंद को (समुद्देण) समुद्र के (समं) साथ (मिणे) मिलान किया जाय तो क्या वह उसके बराबर हो सकती है! नहीं। (एवं) ऐसे ही (माणुस्सगा) मनुष्य संबंधी (कामा) काम भोगों के (अंतिए) समीप (देवकामाणं) देव संबंधी काम भोगों को समझना चाहिए।

भावार्थः–हे गौतम! जिस प्रकार घास के अग्रभाग पर की जल की बूंद में और समुद्र की जलराशि में भारी अन्तर है। अर्थात् कहाँ तो पानी का बूँद और कहाँ समुद्र की जल राशि! इसी प्रकार मनुष्य संबंधी काम भोगों के सामने देव संबंधी काम भोगों को समझना चाहिए।

तत्थ ठिच्चा जहा ठाणं, जक्खा आउक्खए चुया।
उवेंति माणुसं जोणिं, से दसंगेऽभिजायइ ॥२१॥

---

(१) एक वचन होने से इसका आशय यह है, कि समृद्धि के दश अंग अन्यत्र कहे हुए हैं। उनमें से देव लोक से चव

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (तत्थ) वहाँ देव लोक में (जक्खा) देवता (जहाठाणं) यथास्थान (ठिच्चा) रह कर (आउक्खए) आयुष्य के क्षय होने पर वहाँ से (चुया) चव कर (माणुसं) मनुष्य (जोणिं) योनि को (उवेंति) प्राप्त होता है । और जहां जाता है वहां (से) वह (दसंगे) दस अङ्गवाला अर्थात समृद्धिशाली (अभिजायइ) होता है ।

भावार्थः--हे गौतम ! यहाँ जो आत्माएँ शुभ कर्म करके स्वर्ग में जाती हैं, वहाँ वे अपनी आयुष्य को पूरा कर अव शेष पुण्यों से फिर वे मनुष्य-योनि को प्राप्त करती हैं । जिस में भी वह समृद्धिशाली होती है ।

खित्तं वत्थुं हिरण्णं च; पसवो दास पोरुसं ।
चत्तारि काम खंधाणि; तत्थ से उववज्जई ॥३२॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (खित्तं) क्षेत्र ज़मीन (वत्थुं) घर वगैरह (च) और सोना चांदी (पसवो)गाय भैंस वगैरह (दास) नौकर (पोरुसं) कुटुम्बी जन, इस तरह से (चत्तारि) ये चार (कामखंधाणि) काम भोगों का समूह बहुतायत में हैं, (तत्थ) वहां पर (से) वह (उववज्जई) उत्पन्न होता है ।

भावार्थ--हे गौतम ! जो आत्मा गृहस्थ का यथातथ्य धर्म तथा साधुव्रत पाल कर स्वर्ग में जाती है, वह वहां से

कर मृत्यु-लोक में आने वाली कितनीक आत्माओं को तो समृद्धि के नौ ही अंग प्राप्त होते हैं । और किसी को आठ । इसी लिए एक वचन दिया है ।

चव कर ऐसे गृहस्थ के घर जन्म लेती है, कि जहां (१) खुली ज़मीन अर्थात् बाग़ वग़ैरह, खेत वग़ैरह (२) ढंकी ज़मीन अर्थात मकानात वग़ैरह (३) पशु भी बहुत हैं। (४) और नौकर चाकर एवं कुटुम्बी जन भी बहुत हैं, इस प्रकार जो यह चार प्रकार के काम भोगों की सामग्री है उसे समृद्धि का प्रथम अङ्ग कहते हैं। इस अंग की जहां प्रचुरता होती है वहां वह स्वर्ग से आने वाली आत्मा जन्म लेती है। और साथ ही में जो आगे नौ अंग कहेंगे वे भी उसे वहां मिलते हैं।

मित्तवं नाइवं होइ: उच्चगोए य वण्णवं ।
अप्पायंके महापण्णे, अभिजाए जसो बले ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! स्वर्ग से आने वाला जीव (मित्तवं) मित्र वाला (नाइवं) कुटुम्ब वाला (उच्चगोए) उच्च गोत्र वाला (य) और (वण्णवं) कांति वाला (अप्पायंके) अल्प व्याधि वाला (महापण्णे) बुद्धिवाला (अभिजाए) विनय वाला (जसो) यशवाला, (बले) बल वाला (होइ) होता है।

भावार्थः-हे गौतम ! स्वर्ग से आये हुए जीव को समृद्धि का अंग मिलने के साथ ही साथ (१) वह अनेकों मित्रों वाला होता है। (२) इसी तरह कुटुम्बी जन भी उसके बहुत होते हैं (३) इसी तरह वह उच्च गोत्र वाला होता है। (४) अल्प व्याधिवाला (५) रूपवान् (६) विनयवान् (७) यशस्वी (८) बुद्धिशाली एवं (९) बली, वह होता है।

॥इति निर्ग्रन्थ-प्रवचनस्य सप्तदशोऽध्यायः॥

अध्याय अठारहवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

आणाणिद्देसकरे, गुरूणमुववायकारए।
इंगियागारसंपन्ने, से विणीय त्ति वुच्चई ॥ १ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति ! (आणाणिद्देसकरे) जो गुरु जन एवं बड़े बूढ़ों की न्याययुक्त बातों का पालन करने वाला हो, और (गुरूणं) बड़े बूढ़े गुरु जनों के (उववायकारए) समीप रहने वाला हो, और उन की (इंगियागारसंपन्ने) कुचेष्टा भृकुटी आदि चेष्टाएं एवं आकार को जानने में सम्पन्न हो (से) वही (विणीय) विनीत है (त्ति) ऐसा (वुच्चइ) कहा है।

भावार्थः—हे गौतम ! मोक्ष के साधन रूप विनम्र भाव को धारण करने वाला विनीत है, जो कि अपने बड़े बूढ़े गुरु जनों तथा आप्त पुरुषों की आज्ञा का यथायोग्य रूप में पालन करता हो, उन की सेवा में रह कर अपना अहोभाग्य समझता हो, और उनकी प्रवृत्ति निवृत्ति सूचक भृकुटी आदि चेष्टाओं तथा मुखाकृति को जानने में जो कुशल हो, वह विनीत है। और इस के विपरीत जो अपना बर्ताव रखने वाला हो, अर्थात् बड़े बूढ़े गुरु जनों की आज्ञा का उल्लंघन करता

हो, तथा उन की सेवा की जो उपेक्षा करे, वह अविनीत है या धृष्ट है।

अणुसासिओ न कुप्पिज्जा; खंतिं सेविज्ज पंडिए।
खुड्डेहिं सह संसग्गिं; हासं कीडं च वज्जए॥ २॥

अन्वयार्थ–हे इन्द्रभूति! (पंडिए) पंडित वही है, जो (अणुसासिओ) शिक्षा देने पर (न) नहीं (कुप्पिज्जा) क्रोध करे, और (खंतिं) क्षमा को (सेविज्ज) सेवन करता रहे। (खुड्डेहिं) बाल अज्ञानियों के (सह) साथ (संसग्गिं) संसर्ग (हासं) हास्य (च) और (कीडं) क्रीडा को (वज्जए) त्यागे।

भावार्थ:–हे गौतम! पंडित वही है, जो कि शिक्षा देने पर क्रोध न करे। और क्षमा को अपना अंग बनाले। तथा दुराचारी और अज्ञानियों के साथ कभी भी हँसी ठट्ठा न करे, ऐसा ज्ञानियों ने कहा है।

आसणगओ ण पुच्छेज्जा; णेव सेज्जागओ कयाइवि।
आगम्मुक्कुडुओ संतो; पुच्छेज्जा पंजलीउडो॥ ३॥

अन्वयार्थ–हे इन्द्रभूति (आसणगओ) आसन पर बैठे हुए कोई भी प्रश्न (ण) नहीं (पुच्छेज्जा) पूछना गुरुजनों को और (कयाइवि) कदापि (सेज्जागओ) शैया पर बैठे हुए भी (ण) नहीं पूछना, हां (आगम्मुक्कुडुओ) गुरुजनों के पास आकर उकड़ू आसन से (संतो) बैठे (पंजलीउडो) हाथ जोड़ कर (पुच्छिज्जा) पूछना चाहिए।

भावार्थः-हे गौतम ! अपने बड़े बूढ़े गुरु जनों को कोई भी बात पूछना हो तो आसन पर बैठे हुए या शयन करने के बिछौने पर बैठे ही बैठे कभी नहीं पूछना चाहिए। क्योंकि इस तरह पूछने से गुरु जनों का अपमान होता है। और ज्ञान की प्राप्ति भी नहीं होती है। अतः उनके पास जा कर उकड़ू आसन [Sitting on kneels] से बैठ कर हाथ जोतड़ा हुआ प्रत्येक बात को गुरु से पूछे।

जं मे बुद्धाणुसासंति; सीएण फरूसेण वा।
मम लाभो त्ति पेहाए; पयओ तं पडिस्सुणे ॥ ४ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (बुद्धा) बड़े बूढ़े गुरु जन (जं) जो शिक्षा दें, उस समय यों विचार करना चाहिए, कि (मे) मुझे (सीएण) शीतल (व) अथवा (फरूसेण) कठोर शब्दों से (अणुसासंति) शिक्षा देते हैं। यह (मम) मेरा (लाभो) लाभ है (त्ति) ऐसा (पेहाए) समझ कर षट् कायों की रक्षा के लिए (पयओ) प्रयत्न करनेवाला महानुभाव (तं) उस बात को (पडिस्सुणे) श्रवण करे

भावार्थः-हे गौतम ! बड़े बूढ़े व गुरु जन मधुर या कठोर शब्दों में शिक्षा दें, उस समय अपने को यों विचार करना चाहिए, कि जो यह शिक्षा दी जा रही है, वह मेरे लौकिक और पारलौकिक सुख के लिए है। अतः उन की अमूल्य शिक्षाओं को प्रसन्न चित से श्रवण करते हुए उस महानुभाव को अपना अहोभाग्य समझना चाहिए।

हियं विगयभया बुद्धा; फरूसं पि अणुसासणं।
वेसं तं होइ मूढाणं; खंतिसोहिकरं पयं ॥ ५ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (विगयभया) चला गया हो भय जिससे ऐसा (बुद्धा) तत्त्वज्ञ, विनयशील अपने बड़े बूढे गुरु जनों की (फरुसं) कठोर (अणुसासणं) शिक्षा को (पि) भी (हियं) हितकारी समझता है, और (मूढाणं) मूर्ख, "अविनीत" (खंतिसोहिकरं) क्षमा उत्पन्न करने वाला, तथा आत्म शुद्धि करने वाला, ऐसा जो (पयं) ज्ञान रूप पद (तं) उसको श्रवण कर (वेसं) द्वेष युत (होइ) हो जाता है।

भावार्थः--हे गौतम ! जिस को किसी प्रकार की चिन्ता भय नहीं है, ऐसा जो तत्त्वज्ञ, विनयवान महानुभाव अपने बड़े बूढे गुरु जनों की अमूल्य शिक्षाओं को कठोर शब्दों में भी श्रवण करके उन्हें अपना परम हितकारी समझता है। और जो अविनीत मूर्ख होते हैं, वे उनकी हितकारी और श्रवणसुखद शिक्षाओं को सुन कर द्वेषानल में जल मरते हैं।

अभिक्खणं कोही हवइ; पबंधं च पकुव्वई ।
मेत्तिज्जमाणो वमइ; सुयं लद्धूण मज्जई ॥ ६ ॥
अवि पावपरिक्खेवी; अवि मित्तेसु कुप्पई ।
सुप्पियस्साधि मित्तस्स, रहे भासइ पावगं ॥ ७ ॥
पइण्णवाई दुहिलेः थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ।
असंविभागी अवियत्तेः अविणीए त्तिवुच्चई ॥ ८ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! (अभिक्खणं) बार बार (कोही) क्रोध युत (हवइ) होता हो (च) और सदैव (पबंधं) कलहोत्पादक ही कथा (पकुव्वई) करता हो (मेत्तिज्जमाणो) मैत्रीभाव को (वमइ) वमन कर

(सुयं) श्रुत ज्ञान को (लद्धूण) पाकर (मज्जई) मद करे (पावपरिक्खेवी) बड़े बूढ़े व गुरु जनों की न कुछ भूल को भी निंदा रूप में करता (अवि) ही रहे (मित्तेसु) मित्रों पर (अवि) भी (कुप्पई) क्रोध करता रहे (सुप्पियस्स) सुप्रिय (मित्तस्स) मित्र के (अवि) भी (रहे) परोक्ष रूप में उसके (पावगं) पाप दोष (भासइ) कहता हो। (पइण्णवाई) संबंध रहित बहुत बोलने वाला हो, (दुहिले) द्रोही हो (थद्धे) घमण्डी हो। (लुद्धे) रसादिक स्वाद में लिप्त हो (अणिग्गहे) अनिग्रहित इन्द्रियों वाला हो (असंविभागी) किसी को कुछ नहीं देता हो (अवियत्ते) पूछने पर भी अस्पष्ट बोलता हो. वह (अविणीए) अविनीत है। (त्ति) ऐसा (वुच्चइ) ज्ञानी जन कहते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! जो सदैव क्रोध करता है, जो कलहोत्पादक बातें ही नयी नयी घड़ कर सदा कहता रहता है, जिस का हृदय मैत्री भावों से विहीन हो। ज्ञान सम्पादन करके जो उस के गर्व में चूर चूर रहता हो, अपने बड़े बूढ़े व गुरु जनों की न कुछ सी भूलों को भी भयंकर रूप जो देता हो, अपने प्रगाढ़ मित्रों पर भी क्रोध करने से जो कभी न चूकता हो, घनिष्ट मित्रों का भी जो उनके परोक्ष में दोष प्रकट करता रहता हो, वाक्य या कथा का संबंध नहीं मिलने पर भी जो वाचाल की भांति बहुत अधिक बोलता है, प्रत्येक के साथ द्रोह किये बिना जिसे चैन ही नहीं पड़ता हो, गर्व करने में भी जो कुछ कोर कसर नहीं रखता हो, रसादिक पदार्थों के स्वाद में सदैव आसक्त जो रहता हो इन्द्रियों के द्वारा जो पराजित होता रहता हो जो स्वयं पेटू हो, और दूसरों को एक कौर भी कभी नहीं देता है और पूछने पर भी जो सदा अनजान की ही

भाँति बोलता हो, ऐसा जो पुरुष है, वह फिर चाहे जिस जाति, कुल व कौम का क्यों न हो, अविनीत है, अर्थात् अविनय शील है। उसकी इस लोक में तो प्रशंसा होगी ही क्यों ? परन्तु परलोक में भी वह अधोगामी बनेगा।

अह पएणरसहिं ठाणेहिं: सुविणीए त्ति वुच्चई।
नीयावित्ती अचवले; अमाई अकुऊहले ॥ ६ ॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (अह) अब (पएणरसहिं) पंद्रह (ठाणेहिं) स्थानों करके युक्त हो, वह (सुविणीए) अच्छा विनीत है (त्ति) ऐसा (वुच्चई) ज्ञानि जन कहते हैं। और वे पन्द्रह स्थान यों है। (नीयावित्ती) बड़े बूढ़े व गुरुजनों के आसन से नीचे बैठने वाला हो, (अचवले) चपलता रहित हो (अमाई) निष्कपट हो (अकुऊहले) कुतूहल रहित हो।

भावार्थः–हे गौतम ! पन्द्रह कारणों से मनुष्य विनम्र शील या विनीत कहलाता है:—वे पन्द्रह कारण यों है (१) अपने बड़े बूढ़े व गुरु जनों के साथ नम्रता से जो बोलता हो, (२) उनसे नीचे आसन पर बैठता हो, पूछने पर हाथ जोड़ कर बोलता हो, बोलने चलने, बैठने आदि में जो चपलता न दिखाता हो (३) सदैव निष्कपट भाव से जो बर्ताव करता हो (४) खेल, तमाशे, आदि कौतुकों के देखने में अपनी अनिच्छा दिखाता हो.

अप्पं चाहिक्खिवई; पबधं च न कुव्वई।
मित्तिज्जमाणो भयई; सुयं लद्धुं न मज्जई ॥ १० ॥

न य पावपरिक्खेवी; न य मित्तेसु कुप्पई ।
अप्पियस्सावि मित्तस्स; रहे कल्लाण भासई ॥११॥
कलहडमर वज्जए; बुद्धे अभिजाइए ।
हिरिमं पडिसंलीणे; सुविणीए त्ति वुच्चई ॥१२॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (अहिक्खिवई) बड़े बूढे तथा गुरु जन आदि किसी का भी जो तिरस्कार न करता हो (च) और (पबंधं) कलहोत्पादक कथा (न) नहीं (कुव्वई) करता हो, (मेत्तिज्जमाणो) मित्रता को (भयई) निभाता हो, (सुयं) श्रुत ज्ञान को (लद्धं) पा कर के जो (न) नहीं (मज्जई) मद करता हो (य) और (न) नहीं करता हो (पावपरिक्खेवी) बड़े बूढ़े तथा गुरु जनों की कुछेक भूल को (य) और (मित्तेसु) मित्रों पर (न) नहीं (कुप्पई) क्रोध करता हो (अप्पियस्स) अप्रिय (मित्तस्स) मित्र के (रहे) परोक्ष में (अवि) भी, उसके (कल्लाण) गुणानुवाद (भासई) बोलता हो, (कलहडमर वज्जए) वाक्युद्ध और काया युद्ध दोनों से अलग रहता हो, (बुद्धे) वह तत्त्वज्ञ फिर (अभिजाइए) कुलीनता के गुणों से युक्त हो, (हिरिमं) लज्जावान् हो, (पडिसंलीणे) इन्द्रियों पर विजय पाया हुआ हो, वह (सुविणीए) विनीत है । (त्ति) ऐसा ज्ञानी जन (वुच्चई) कहते हैं ।

भावार्थः-हे गौतम ! फिर तत्त्वज्ञ महानुभाव (५) अपने बड़े बूढ़े तथा गुरु जनों का कभी भी तिरस्कार नहीं करता हो (६) टण्टे फिसाद की बातें न करता हो (७) उपकार करनेवाले मित्र के साथ बने वहां तक पीछा उपकार ही

करता हो, यदि उपकार करने की शक्ति न हो तो अपकार से तो सदा सर्वदा दूर ही रहता हो (८) ज्ञान पा कर घमण्ड न करता हो (९) अपने बड़े बूढ़े तथा गुरु जनों की कुछेक भूल को भयंकर रूप न देता हो (१०) अपने मित्र पर कभी भी क्रोध न करता हो (११) परोक्ष में भी अप्रिय मित्र का अवगुणों के बजाय गुणगान ही करता हो (१२) वाक् युद्ध और काया युद्ध दोनों से जो कतई दूर रहता हो, (१३) कुलीनता के गुणों से सम्पन्न हो (१४) लज्जावान् अर्थात् अपने बड़े बूढ़े तथा गुरु जनों के समक्ष नेत्रों में शरम रखने वाला हो (१५) और जिसने इन्द्रियों पर पूर्ण साम्राज्य प्राप्त कर लिया हो, वही विनीत है। ऐसे ही की इस लोक में प्रशंसा होती है। और परलोक में उन्हें शुभ गति मिलती है।

जहाहिअग्गी जलणं नमंसे
नाणाहुई मंत पयाभिसत्तं।
एवायरियं उवचिट्ठइज्जा
अणंतनाणोवगओ वि संतो ॥ १३ ॥

अन्वयार्थः—हे इन्द्रभूति! (जहा) जैसे (आहिअग्गी) अग्नि होत्री ब्राह्मण (जलणं) अग्नि को (नमंसे) नमस्कार करते हैं। तथा (नाणाहुईमंतपयाभिसत्तं) नाना प्रकार से घी प्रक्षेप रूप आहुति और मंत्र पदों से उसे सिंचित करते हैं (एवायरियं) इसी तरह से बड़े बूढ़े व गुरु जन और आचार्य की (अणंतनाणो वगओसंतो) अनंत ज्ञान युत होने पर (वि) भी (उवचिट्ठइज्जा) सेवा करनी ही चाहिए।

भावार्थः-हे गौतम ! जिस प्रकार अग्निहोत्री ब्राह्मण अग्नि को नमस्कार करते हैं, और उस को अनेक प्रकार से घी प्रक्षेपन रूप आहुति एवं मंत्र पदों से सिंचित करते हैं इसी तरह पुत्र और शिष्यों का कर्त्तव्य और धर्म है, कि चाहे वे अनंत ज्ञानी भी क्यों न हो उन को अपने बड़े बूढ़े और गुरु जनों एवं आचार्य की सेवा शुश्रूषा करनी ही चाहिए। जो ऐसा करते हैं, वे ही सचमुच में विनीत हैं।

आयरियं कुवियं णच्चा; पत्तिएण पसायए ।
विज्झवेज्ज पंजलीउडो;वइज्ज ण पुणत्ति य ॥१४॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (आयरियं) आचार्य को (कुवियं) कुपित (णच्चा) जान कर (पत्तिएण) प्रीति कारक शब्दों से फिर (पसायए) प्रसन्न कर (पञ्जलीउडो) हाथ जोड कर (विज्झवेज्ज) शान्त कर (य) और (ण पुणत्ति) फिर ऐसा अविनय नहीं करूँगा ऐसा (वइज्ज) बोले।

भावार्थः--हे गौतम ! बड़े बूढ़े गुरु जन एवं आचार्य अपने पुत्र शिष्यादि की अविनयता से कुपित हो उठे तो

---

(१) कई जगह " णच्चा " की जगह (नच्चा) भी मूल पाठ में आता है। ये दोनों शुद्ध हैं। क्योंकि प्राकृत में नियम है, कि " नो णः " नकार का णकार होता है। पर शब्द के आदि में न हो तो वहां ' व आदौ ' इस सूत्र से नकार का णकार विकल्प से हो जाता है। अर्थात नकार या णकार दोनों में से कोई भी एक हो।

प्रीति कारक शब्दों के द्वारा पुनः उन्हें प्रसन्न चित्त करे, हाथ जोड जोड़ कर उनके क्रोध को शान्त करे, और यों कह कर कि "इस प्रकार" की अविनयता या अपराध आगे से मैं कभी नहीं करूंगा। अपने अपराध की क्षमा याचना करे।

णच्चा णमइ मेहावी; लोए कित्ती से जायइ।
हवइ किच्चाण सरणं; भूयाणं जगई जहा ॥ १५ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! इस प्रकार विनय की महत्वता को (णच्चा) जान कर (मेहावी) बुद्धिमान् मनुष्य(णमइ) विनयशील हो, जिस से (से) वह (लोए) इस लोक में (कित्ती) कीर्ति का पात्र (जायइ) होता है (जहा) जैसे (भूयाणं) प्राणियों को (जगई) पृथ्वी आश्रय भूत है, ऐसे ही विनीत महानुभाव(किच्चाण) पुण्य क्रियाओं का (सरणं) आश्रय रूप (हवइ) होता है।

भावार्थः--हे गौतम ! इस प्रकार विनय की महत्वता को समझ कर बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि इस विनय को अपना परम स्नेही बनाले। जिससे वह इस संसार में प्रशंसा का पात्र हो जाय। जिस प्रकार वह पृथ्वी सभी प्राणियों को आश्रय रूप है, ऐसे ही विनयशील मानव भी सदाचार रूप अनुष्ठान का आश्रय रूप है। अर्थात् कृत कर्मों के लिए स्वदान रूप है।

स देवगंधव्वमणुस्सपूइए;
चइत्तु देहं मलपंकपुव्वयं।
सिद्धे वा हवइ सासए;
देवे वा अप्परए महिड्ढिए ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति (देवगंधव्वमणुस्सपूइए) देव, गंधर्व और मनुष्य से पूजित (स)वह विनय शील मनुष्य (मलपंकपुव्वयं) रुधिर और वीर्य से बनने का कारण है पूर्व ऐसे (देहं) मानव शरीर को (चइत्तु) छोड़ करके (सासए) शाश्वत ऐसा (सिद्धे वा) सिद्ध (हवइ) होता है (वा) अथवा (अप्परए) अल्प कर्म वाला (महिड्ढिए) महा ऋद्धिवंता (देवे) देवता होता है।

भावार्थः-हे गौतम! देव, गंधर्व, और मनुष्यों के द्वारा पूजित ऐसा वह विनीत मनुष्य रुधिर और वीर्य से बने हुए इस शरीर को छोड़ कर शाश्वत सुखों को सम्पादन कर लेता है। अथवा अल्प कर्म वाले महा ऋद्धिवंता देव जो हैं उनकी श्रेणी में जन्म धारण करता है। ऐसा ज्ञानी जनों ने कहा है।

अत्थि एगं धुवं ठाणं लोगग्गम्मि दुरारुहं।
जत्थ नत्थि जरामच्चू वाहिणो वेयणा तहा॥१७॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति! (लोगग्गम्मि) लोक के अग्र भाग पर (दुरारुहं) कठिनता से चढ़ सके ऐसा (एगं) एक (धुवं) निश्चल (ठाणं) स्थान (अत्थि) है। (जत्थ) जहाँ पर (जरामच्चू) जरामृत्यु (वाहिणो) व्याधियां (तहा) तथा (वेयणा) वेदना (नत्थि) नहीं है।

भावार्थ-हे गौतम! कठिनता से जा सके, ऐसा एक निश्चल, लोक के अग्र भाग पर, स्थान है। जहाँ पर न वृद्धावस्था का दुख है और न व्याधियों ही का लेन देन है। तथा शारीरिक व मानसिक वेदनाओं का भी वहाँ नाम नहीं है।

निव्वाणं ति अबाहं ति; सिद्धीलोगग्गमेव य।
खेमं सिवमणाबाहं; जं चरंति महेसिणो॥१८॥

अन्वयार्थः--हे इन्द्रभूति ! वह स्थान (निव्वाणंति) निर्वाण (अबाहं ति) अबाध (सिद्धी) सिद्धि (य) और (एव) ऐसे ही (लोगग्गं) लोकाग्र (खेमं) क्षेम (सिवं) शिव (अणाबाह) अनाबाध, इन शब्दों से भी पुकारा जाता है। ऐसे (जं) उस स्थान को (महेसिणो) महर्षि लोग (चरंति) जाते हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! उस स्थान को निर्वाण भी कहते है, जहाँ आत्मा के सर्व प्रकार के संतापों का एकदम अभाव रहता है। अबाधा भी उसी स्थान का नाम है, जहाँ आत्मा को किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती है। उसको सिद्धि भी कहते हैं; जहाँ आत्मा ने अपना इच्छित कार्य सिद्ध कर लिया है। और लोक के अग्रभाग पर होने से लोकाग्र भी उसी स्थान को कहते है। फिर उसका नाम क्षेम भी है, क्योंकि वहाँ आत्मा को शाश्वत सुख मिलता है। उसी को शिव भी कहते हैं, जहाँ आत्मा निरूपद्रव से सुख भोगती रहती है। इसी तरह उसको अनाबाध [Natural happiness] भी कहते हैं। जिससे वहाँ गयी हुई आत्मा स्वभाविक सुखों का उपभोग करती रहती है, किसी भी तरह की बाधा उसे वहाँ होती नहीं। इस प्रकार के उस स्थान को संयमी जीवन के बिताने वाली आत्माएँ शीघ्राति शीघ्र प्राप्त करती है।

नाणं च दंसणं चेव; चारित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमणुपत्ता; जीवा गच्छंति सोग्गइं ॥ १६ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (नाणं) ज्ञान (च) और (दंसणं) श्रद्धान (चेव) और इसी तरह (चारित्तं) चारित्र

होता है। (झाणसमाहिजुत्ते) शुक्ल ध्यान रूप समाधि से युक्त होने पर वह (आउक्खए) आयुष्य क्षय होने पर (सुद्धे) निर्मल (मोक्खं) मोक्ष को (उवेइ) प्राप्त होता है।

भावार्थ–हे गौतम ! शुक्ल ध्यान रूप समाधि के युक्त होने पर वह जीव मोह अन्तराय और आश्रव रहित हो जाता है। तब फिर वह सर्व लोक को जान लेता है। और देख लेता है। और मानव शरीर की आयु के पूर्ण हो जाने पर वह निर्मल मोक्षस्थान को पा लेता है।

सुक्कमूले जहा रुक्खे, सिच्चमाणे ण रोहंति।
एवं कम्मा ण रोहंति, मोहणिज्जे खयंगए ॥ २३ ॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (रुक्खे) वृक्ष, जो कि (सुक्कमूले) सूखा हुआ है, उसको (सिच्चमाणे) सींचने पर (ण) नहीं (रोहंति) लहलहाता है (एवं) उसी प्रकार (मोहणिज्जे) मोहनीय कर्म (खयंगए) क्षय हो जाने पर पुनः (कम्मा) कर्म (ण) नहीं (रोहंति) उत्पन्न होते हैं।

भावार्थः–हे गौतम ! जिस प्रकार सूखे हुए वृक्ष के मूल को पानी से सींचने पर लहलहाता नहीं है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर पुनः कर्म उत्पन्न नहीं होते हैं। क्योंकि, जब कारण ही नष्ट हो गया, तो फिर कार्य कैसे हो सकता है।

जहा दड्ढाणं बीयाणं, ण जायंति पुणंकुरा।
कम्म बीएसु दड्ढेसु, न जायंति भवंकुरा ॥ २४ ॥

अन्वयार्थः-हे इन्द्रभूति ! (जहा) जैसे (दड्ढाणं) दग्ध (बीयाणं) बीजों के (पुणंकुरा) पुनरंकुर (ण) नहीं (जायंति) उत्पन्न होते हैं । उसी प्रकार (दड्ढेसु) दग्ध (कम्मबीएसु) कर्म बीजों में से (भवंकुरा) भव रूपी अंकुर (न) नहीं (जायंति) उत्पन्न होते हैं ।

भावार्थः-हे गौतम ! जिस प्रकार जले भूंजे बीजों को बोने से अंकुर उत्पन्न नहीं होता है, उसी प्रकार जिसके कर्म रूपी बीज नष्ट हो गये हैं, सम्पूर्ण क्षय हो गये हैं, उस अवस्था में उस के भव रूपी अंकुर पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं ।

॥ श्री गौतमोवाच ॥

कहिं पडिहया सिद्धा; कहिं सिद्धा पइट्ठिया ।
कहिं बोंदिं चइत्ता णं[1] कत्थ गंतूण सिज्झई ॥२५॥

अन्वयार्थः-हे प्रभो ! (सिद्धा) सिद्ध जीव (कहिं) कहां पर (पडिहया) प्रतिहत हुए हैं ? (कहिं) कहां पर (सिद्धा) सिद्ध जीव (पइट्ठिया) रहे हुए हैं ? (कहिं) कहां पर (बोंदिं) शरीर को (चइत्ता) छोड़ कर (कत्थ) कहां पर (गंतूण) जाकर (सिज्झई) सिद्ध होते हैं ?

भावार्थः-हे प्रभो ! जो आत्माएँ, मुक्ति में गयी हैं, वे कहां तो प्रतिहत हुई हैं ? कहां ठहरी हुई हैं ? मानव शरीर कहां पर छोड़ा है ? और कहां जा कर वे आत्माएँ सिद्ध होती हैं ?

---

(१) णं वाक्यालंकार ।

॥ श्री भगवानुवाच ॥

अलोए पडिहया सिद्धा; लोयग्गे अ पइट्ठिया ।
इहं बोंदीं चइत्ता णं[1] तत्थ गंतूण सिज्झई ॥ २६ ॥

अन्वयार्थः–हे इन्द्रभूति ! (सिद्धा) सिद्ध आत्माएँ (अलोए) अलोक में तो (पडिहया) प्रतिहत हुई हैं । (अ) और (लोयग्गे) लोकाग्र पर (पइट्ठिया) ठहरी हुई हैं । (इहं) इस लोक में (बोंदीं) शरीर को (चइत्ता) छोड़कर (तत्थ) लोक के अग्रभाग पर (गंतूण) जाकर (सिज्झई) सिद्ध हुई हैं ।

भावार्थः–हे गौतम ! जो आत्माएँ सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मों से मुक्त होती हैं, वे फिर शीघ्र ही स्वभाविकता से ऊर्ध्व लोक को गमन कर अलोक से प्रतिहत होती हैं, अर्थात् अलोक में गमन करने में सहायक वस्तु धर्मास्तिकाय [A substance, which is the medium of motion to soul and matter, and which contains innumerable atoms of space, pervades the whole universe and has no fulcrum of motion] नहीं होने से गति रूक जाती है । तब वे सिद्ध आत्माएँ लोक के अग्रभाग पर ठहरी रहती हैं । वे आत्माएँ इस मानव शरीर को यहीं छोड़ कर लोकाग्र पर सिद्धात्मा होती हैं ।

अरूविणो जीवघणा; नाणदंसणसन्निया ।
अउलं सुहसंपन्ना; उवमा जस्स नत्थि उ ॥ २७ ॥

---

(१) णं वाक्यालंकार ।

अन्वयार्थः--हे गौतम ! (अरूविणो) सिद्धात्मा अरूपी हैं। और (जीवघणा) वे जीव घन रूप हैं । (नाणदंसणसन्निया) जिन की केवल ज्ञान दर्शन रूप ही संज्ञा है। (अउलं) अतुल (सुहसंपन्ना) सुख करके युक्त हैं (जस्स उ) जिस की तो (उवमा) उपमा भी (नत्थि) नहीं है।

भावार्थः--हे गौतम ! जो आत्मा सिद्धात्मा के रूप में होती हैं, वे अरूपी हैं, उन के आत्म-प्रदेश घन रूप में होते हैं। ज्ञान दर्शन रूप ही जिन की केवल संज्ञा होती है और वे सिद्धात्माएँ अतुल सुख से युक्त रहती हैं। जिन के सुखों की उपमा भी नहीं दी जा सकती है।

॥ श्री सुधर्मोवाच ॥

एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी;
अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसण धरे।
अरहा णायपुत्ते भयवं;
वेसालिए विआहिए ॥ २८ ॥

अन्वयार्थः--हे जम्बू ! (अणुत्तरनाणी) प्रधान ज्ञान (अणुत्तरदंसी) प्रधान दर्शन अर्थात् (अणुत्तरनाणदंसणधरे) एक ही समय में जानना और देखना ऐसे प्रधान ज्ञान और दर्शन उसके धारक, और (विआहिए) सत्योपदेशक (से) उन निर्ग्रंथ (णायपुत्ते) सिद्धार्थ के पुत्र (वेसालिए) त्रिशला के अंगज (अरहा) अरिहंत (भयवं) भगवान् ने (एवं) इस प्रकार (उदाहु) कहा है। (त्ति बेमि) इस प्रकारसुधर्म स्वामी ने जम्बू स्वामी प्रति कहा है।

भावार्थः—हे जम्बू ! प्रधान ज्ञान और प्रधान दर्शन के धारी अर्थात् एक ही समय में एक ही साथ ज्ञान दर्शन हो जाय, ऐसा केवल ज्ञान और दर्शन के धारक सत्योपदेश करने वाले, प्रसिद्ध क्षत्रिय कुल के सिद्धार्थ राजा के पुत्र और त्रिशला रानी के अंगज, निर्ग्रन्थ, अरिहंत भगवान् महावीर ने इस प्रकार कहा है, ऐसा सुधर्म स्वामी ने जम्बू स्वामी के प्रति निर्ग्रन्थ के प्रवचन को समझाया है।

॥इति निर्ग्रंथ-प्रवचनस्याष्टादशोऽध्यायः॥



॥ णमो सिद्धाणं ॥

निर्ग्रन्थ-प्रवचन-मूल

अध्याय पहला

श्री भगवानुवाच ।

नो इंदियग्गेज्झ अमुत्तभावा;
अमुत्तभावा वि अ होइ निच्चो।
अज्झत्थहेउं नियस्स बंधो;
संसारहेउं च वयंति बंधं ॥ १ ॥

उ. अ १४ गाथा १९

अप्पा नई वेयरणी; अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहाधेणू; अप्पा मे नंदणं वणं ॥ २ ॥

उ. अ. २० गा. ३६

अप्पा कत्ता विकत्ता य; दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च; दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ॥ ३ ॥

उ. अ. २० गा. ३७

न तं अरी कंठछित्ता करेति;
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ।

से नाहिइ मच्चुमुहं ते पत्ते;
पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥ ४ ॥
उ. अ. २० गा. ४८

अप्पा चेव दमेयव्वो; अप्पा हु खलु दुद्दमा ।
अप्पा दंतो सुही होइ; अस्सिं लोए परत्थ य ॥५॥
उ. अ. १ गा. १५

वरं मे अप्पा दंतो; संजमेण तवेण य ।
माहं परेहि दम्मंतो; बंधणेहिं वहेहि य ॥ ६ ॥
उ. अ. १ गा. १६

जो सहस्सं सहस्साणं; संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणिज्ज अप्पाणं; एस से परमो जओ ॥ ७ ॥
उ. अ. ९ गा. ३४

अप्पाणमेव जुज्झाहि; किं ते जुज्झेण बज्झओ ।
अप्पाणमेव अप्पाणं; जइत्ता सुहमेहए ॥ ८ ॥
उ. अ. ९ गा. ३५

पंचिंदियाणि कोहं; माणं मायं तहेव लोभं च ।
दुज्जयं चेव अप्पाणं; सव्वमप्पे जिए जियं ॥ ९ ॥
उ. अ. ९ गा. ३६

सरीरमाहु नाव त्ति; जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो; जं तरंति महेसिणो ॥१०॥
उ. अ. २३ गा. ७३

नाणं च दंसणं चेव; चरित्तं च तवो तहा ।
वीरियं उवओगो य; एयं जीवस्स लक्खणं ॥ ११ ॥
उ. अ. २८ गा. ११

जीवाऽजीवा य बंधो य; पुण्णं पावासवो तहा ।
संवरो निज्जरा मोक्खो; संतेए तहिया नव ॥१२॥
उ. अ. २८ गा. १४

धम्मो अहम्मो आगासं; कालो पुग्गलजंतवो ।
एस लोगु त्ति पण्णत्तो; जिणेहिं वरदंसिहिं ॥ १३ ॥
उ. अ. २८ गा. ७

धम्मो अहम्मो आगासं; दव्वं इक्किक्कमाहियं ।
अणंताणि य दव्वाणि; कालो पुग्गलजंतवो ॥१४॥
उ. अ. २८ गा. ८

गइलक्खणो उ धम्मो; अहम्मो ठाणलक्खणो ।
भायणं सव्वदव्वाणं; नहं ओगाहलक्खणं ॥ १५ ॥
उ. अ. २८ गा. ९

वत्तणालक्खणो कालो; जीवो उवओगलक्खणो ।
नाणेणं दंसणेणं च; सुहेण य दुहेण य ॥ १६ ॥
उ. अ. २८ गा. १०

सद्दंधयारउज्जोओ; पहा छायाऽऽतवेइ वा ।
वण्णरसगंधफासा; पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥ १७ ॥
उ. अ. २८ गा. १२

एगत्तं च पुहत्तं च; संखा संठाणमेव य ।
संजोगा य विभागा य; पज्जवाणं तु लक्खणं ॥१८॥
उ. अ. २८ गा. १३

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

अध्याय दूसरा

॥ श्री भगवानुवाच ॥

अट्ठ कम्माइं वोच्छामि, आणुपुव्विं जहक्कमं ।
जेहिं बद्धो अयं जीवो, संसारे परियत्तइ ॥ १ ॥
उ. अ. ३३ गा. १

नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा ।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥ २ ॥
नाम कम्मं च गोयं च, अन्तरायं तहेव य ।
एवमेयाइ कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ ॥ ३ ॥
उ. अ. ३३ गा. २-३

नाणावरणं पंचविहं, सुयं आभिणिबोहियं ।
ओहिनाणं तइयं, मणनाणं च केवलं ॥ ४ ॥
उ. अ. ३३ गा. ४

निद्दा तहेव पयला, निद्दानिद्दा य पयलापयला य ।
तत्तो अ थीणगिद्धी उ, पंचमा होइ नायव्वा ॥ ५ ॥
चक्खुमचक्खू ओहिस्स, दंसणे केवले अ आवरणे ।
एवं तु नव विगप्पं, नायव्वं दंसणावरणं ॥ ६ ॥
उ. अ. ३३ गा. ५-६

वेयणीयं पि अ दुविहं; सायमसायं च आहियं।
सायस्स उ बहू भेया; एमेव असायस्स वि ॥ ७ ॥
उ. अ. ३३ गा. ७

मोहणिज्जं पि दुविहं; दंसणे चरणे तहा।
दंसणे तिविहं वुत्तं; चरणे दुविहं भवे ॥ ८ ॥
उ. अ. ३३ गा. ८

सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं; सम्मामिच्छत्तमेव य।
एयाओ तिण्णि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दंसणे॥९॥
उ. अ. ३३ गा. ९

चरित्तमोहणं कम्मं; दुविहं तु वियाहियं।
कसाय मोहणिज्जं तु; नोकसायं तहेव य ॥ १० ॥
उ. अ. ३३ गा. १०

सोलसविहभेएणं; कम्मं तु कसायजं।
सत्तविहं नवविहं वा; कम्मं नोकसायजं ॥ ११ ॥
उ. अ. ३३ गा. ११

नेरइयतिरिक्खाउं; मणुस्साउं तहेव य।
देवाउअं चउत्थं तु; आउकम्मं चउव्विहं ॥ १२ ॥
उ. अ. ३३ गा. १२

नामकम्मं तु दुविहं; सुहं असुहं च आहियं।
सुहस्स य बहू भेया; एमेव असुहस्स वि ॥ १३ ॥
उ. अ. ३३ गा. १३

गोयकम्मं तु दुविहं; उच्चं नीयं च आहिअं।
उच्चं अट्ठ विहं होइ; एवं नीअं वि आहिअं ॥ १४ ॥
उ. अ. ३३ गा. १४

दाणे लाभे य भोगे य; उवभोगे वीरिए तहा।
पंचविहमन्तरायं, समासेण विआहियं ॥ १५ ॥
उ. अ. ३३ गा. १५

उदहिसरीसनामाणं, तीसई कोडिकोडीओ।
उक्कोसिया ठिई होइ, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया॥१६॥
आवरणिज्जाण दुण्हं पि, वेयणिज्जे तहेव य।
अन्तराए य कम्मंमि, ठिई एसा विआहिया ॥१७॥
उ. अ. ३३ गा. १९-२०

उदहिसरिस नामाणं, सत्तरि कोडिकोडीओ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया॥१८॥
तेत्तीसं सागरोवम, उक्कोसेण विआहिया।
ठिई उ आउकम्मस्स, अन्तोमुहुत्तंजहण्णिया ॥१९॥
उदहिसरिसनामाणं, वीसई कोडिकोडीओ।
नामगोत्ताण उक्कोसा, अट्ठ मुहुत्ता जहण्णिया॥२०॥
उ. अ. ३३ गा २१-२२-२३

एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया।
एगया आसुरं कायं, अहाकम्मेहिं गच्छइ ॥ २१ ॥
उ. अ. ३ गा. ३

तेणे जहा संधिमुहे गहीए,
सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।

एवं पया पेच्च इहंच लोए,
कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि ॥२२॥
उ. अ. ३ गा. ३

संसारमावरण परस्स अट्ठा,
साहारणं जं च करेइ कम्मं।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले,
न बंधवा बंधवयं उविंति ॥ २३ ॥
उ. अ. ४ गा. ४

न तस्स दुक्खं विभयंति नाइओ,
न मित्तवग्गा न सुया न बन्धवा।
इक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,
कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥ २४ ॥
उ. अ. १३ गा. गा. २३

चिच्चा दुपयं च चउप्पयं च,
खित्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं।
सकम्मप्पबीओ अवसो पयाइ,
परं भवं सुन्दरं पावगं वा ॥ २५ ॥
उ. अ. १३ गा. २४

जहा य अंडप्पभवा बलागा,
अंडं बलागप्पभवं जहा य।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा,
मोहं च तण्हाययणं वयंति ॥ २६ ॥
उ. अ. ३२ गा. ६

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं,
कम्मं च मोहप्पभवं वयंति ।
कम्मं च जाई मरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाई मरणं वयंति ॥ २७ ॥
उ. अ. ३२ गा. ७

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥ २८ ॥
उ. अ. ३२ गा. ८

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

अध्याय तीसरा

॥ श्री भगवानुवाच ॥

कम्माणं तु पहाणाए; आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहिमणुपत्ता; आययंति मणुस्सयं ॥१॥
उ. अ. ३ गा. ७

वेमायाहिं सिक्खाहिं; जे नरा गिहि सुव्वया।
उविंति माणुसं जोणिं; कम्मसच्चा हु पाणिणो ॥२॥
उ. अ. ७ गा. २०

बाला किड्डा य मंदा य; बला पन्नया हायणी।
पवंचा पभारा य; मुम्मुही सायणी तहा ॥३॥
स्था. १० वां

माणुस्सं विग्गहं लध्धुं; सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जंति; तवं खंतिमहिंसयं ॥४॥
उ. अ. ३ गा. ८

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं; अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति; जस्स धम्मे सयामणो ॥५॥
द. अ. १ गा. १

मूला उ खंधप्पभवो दुमस्स;
खंधाउ पच्छासमुविंति साहा।
साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता;
तओ से पुप्फं च फलं रसो अ ॥६॥
द. अ. ६ उ २ गा. १

एवं धम्मस्स विणओ; मूलं परमो से मुक्खो।
जेण कित्तिं सुअं सिग्धं; नीसेसं चाभिगच्छइ ॥७॥
द अ. ६ उ. २ गा. २

अणुसट्ठंपि बहुविहं; मिच्छद्दिट्ठिया जे नरा अबुद्धीया।
बद्धनिकाइय कम्मा; सुणंति धम्मं न परं करेंति॥८॥
प्रश्न. आश्रवद्वार

जरा जाव न पीडेइ; वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायंति; ताव धम्मं समायरे ॥९॥
द. अ ८ गा. ३६

जा जा वच्चइ रयणी; न सा पडि निअत्तइ।
अहम्मं कुणमाणस्स; अफला जंति राइओ ।१०॥
उ. अ. १४ गा २४

जा जा वच्चइ रयणी; न सा पडि निअत्तइ।
धम्मं च कुणमाणस्स; सफला जंति राइओ ॥११॥
उ. अ. १४ गा. २५

सोही उज्जुअ भूयस्स; धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।
णिव्वाणं परमं जाइ; घयसित्तो व्व पावए ॥१२॥
उ. अ. ३ गा. १२

जरामरणवेगेणं; बुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठाय; गइ सरणमुत्तमं ॥ १३॥
उ. अ. २३ गा. ६८

एस धम्मे धुवे णितए; सासए जिणदेसिए ।
सिद्धा सिज्झंति चाणेणं; सिज्झिस्संति तहावरे॥१४॥
उ. अ. १६ गा. १७

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

अध्याय चौथा

॥ श्री भगवानुवाच ॥

जह णरगा गम्मंति; जे णरगा जाय वेयणा णरए।
सारीरमाणसाइं; दुक्खाइं तिरिक्ख जोणीए ॥१॥

औपपातिक

माणुस्सं च अणिच्चं;
वाहिजरामरण वेयणापउरं।
देवे य देवलोए;
देविड्ढिं देवसोक्खाइं ॥ २ ॥

औपपातिक

णरगं तिरिक्खजोणिं; माणुसभवं च देवलोगंच।
सिद्धेअ सिद्धवसहिं; छज्जीवणियं परिकहेइ ॥३॥

औपपातिक

जह जीवा बज्झंति; मुच्चंति जह य परिकिलिस्संति।
जह दुक्खाण अंतं करेंति केई अपडिबद्धा ॥४॥

औपपातिक

अट्टदुहट्टिय चित्ता जह; जीवा दुक्खसागर मुवंति।
जह वेरग्गमुवगया; कम्मसमुग्गं विहाडेंति ॥५॥

औपपातिक

जह रागेण कडाण कम्माणं; पावगो फलविवागो ।
जह य परिहीणकम्मा; सिद्धा सिद्धालयमुवेंति ॥६॥
औपपातिक

आलोयण निरवलावे; आवई सुदढ धम्मया ।
अणिस्सि उवहाणे य, सिक्खा निप्पडिकम्मया ॥७॥
सं. ३२ वां

अणायया अलोभय; तितिक्खा अज्जवे सुइ ।
सम्मदिट्ठी समाही य; आयारे विणओवए ॥८॥
सं. ३२ वां

धिईमई य संवेगे, पणिही सुविही संवरे ।
अत्तदोसोवसंहारे, सव्वकाम विरत्तया ॥९॥
सं ३२ वां

पच्चक्खाणे विउस्सग्गे; अप्पमाद लवालवे ।
ज्झाणे संवर जोगे य; उदए मारणंतिए ॥१०॥
सं० ३२ वां

संगाणं य परिण्णाया; पायच्छित्तकरणे वि य ।
आराहणा य मरणंते; बत्तीसं जोगसंगहा ॥११॥
सं० ३२ वां

अरहंतसिद्धपवयणगुरूथेरबहुस्सुए तवस्सीसु ।
वच्छल्लया तेसिं अभिक्खण णाणोवओगे य ॥१२॥
ज्ञा० अ. ८

दंसण विणए आवस्सए, सीलव्वए निरइयारं ।
खणलव तवच्चियाए, वेयावच्चे समाही य ॥१३॥
ज्ञा० अ० ८

अपुव्वणाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया ।
एएहिं कारणेहिं; तित्थयरत्तं लहइ जीओ ॥१४॥
ज्ञा० अ० ८

पाणाइवायमलियं, चोरिक्कं मेहुणं दवियमुच्छं ।
कोहं माणं मायं; लोभ पिज्जं तहा दोसं ॥१५॥
कलहं अब्भक्खाणं; पेसुन्नं रइ अरइ समाउत्तं ।
परपरिवायं मायः मोसं मिच्छत्तसल्लं च ॥१६॥
आवश्यक

अज्झवसाणनिमित्तः आहारे वेयणापराघाते ।
फासे आणापाणूः सत्तविहं भिज्जए आउं ॥१७॥
स्था. ७ वां.

जह मिउलेवालित्तं; गरुयं तुंबं अहो वयइ एवं ।
आसवकयकम्मगुरु जीवा, वच्चंति अहरगइं ॥१८॥
ज्ञा० अ० ६

तं चेव तव्विमुक्कं; जलोवरिं ठाइ जायलहुभाव ।
जह तह कम्मविमुक्काः लोयग्गपइट्ठिया होंति ॥१९॥
ज्ञा. अ. ६

॥ श्री गौतमोवाच ॥

कहं चरे ? कहं चिट्ठे ? कहं आसे ? कहं सए ?
कहं भुंजंतो ? भासंतो; पावंकम्मं न बंधइ ॥२०॥
द. अ. ४ गा. ७

॥ श्री भगवानुवाच ॥

जयं चरे जयं चिट्ठे; जयं आसे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो; पावं कम्मं न बंधइ ॥२१॥
द. अ. ४ गा. ८

पच्छा वि ते पयाया;
खिप्पं गच्छंति अमर भवणाइं।
जेसिं पिया तवो संजमो य;
खंति य बम्भचेरं च ॥२२॥
द. अ. ४ गा. २८

तवो जोई जीवो जोइठाणं;
जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजमजोगसंती;
होमंहुणामि इसिणं पसत्थं ॥२३॥
उ. अ. १२ गा. ४४

धम्मे हरए बंभे संतितित्थे;
अणाविले अत्तपसन्नलेसे।
जहिंसि ण्हाओ विमलो विसुद्धो;
सुसीति भूओ पजहामि दोसं ॥२४॥
उ. अ. १२ गा. ४६

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

अध्याय पाँचवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

तत्थ पंचविहं नाणं; सुअं अभिणिबोहिअं ।
ओहिणाणं च तइअं; मणणाणं च केवलं ॥१॥
उ. अ. २८ गा. ४

अह सव्वदव्वपरिणामभावविण्णत्ति कारणमणंतं ।
सासयमप्पडिवाई एगविहं केवलं नाणं ॥२॥
नन्दी.

एयं पंचविहं णाणं; दव्वाण य गुणाण य ।
पज्जवाणं च सव्वेसिं; नाणं नाणीहि देसियं ॥३॥
उ. अ. २८ गा. ५

गुणाणमासओ दव्वं; एगदव्वस्सिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु; उभओ अस्सिया भवे ॥४॥
उ. अ. २८ गा. ६

पढमं नाणं तओ दया; एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ।
अन्नाणी किं काही किं वा; नाहिइ छेय पावगं ॥५॥
द. अ. ४ गा. १०

सोच्चा जाणइ कल्लाणं; सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणइ सोच्चा; जं छेयं तं समायरे ॥६॥
द. अ. ४ गा. ११

जहा सूई ससुत्ता; पडिआ वि न विणस्सइ ।
तहा जीवे ससुत्ते; संसारे न विणस्सइ ॥७॥
उ. अ. २६ बोल ५६ वां

जावंतऽविज्जापुरिसा; सव्वे ते दुक्ख संभवा ।
लुप्पंति बहुसो मूढा; संसारम्मि अणंतए ॥८॥
उ. अ. ६ गा. १

इह मेगे उ मण्णंति; अप्पच्चक्खाय पावगं ।
आयरिअं विदित्ताणं; सव्व दुक्खा विमुच्चई ॥६॥
उ. अ. ६ गा. ८

भणंता अकरिंता य; बंधमोक्ख पइण्णिणो ।
वायाविरियमेत्तेणं; समासासंति अप्पयं ॥ १० ॥
उ. अ. ६ गा. ६

ण चित्ता तायए भासा; कओ विज्जाणुसासणं ।
विसण्णा पावकम्मेहिं; बाला पंडियमाणिणो ॥११॥
उ. अ. ६ गा. १०

जे केइ सरीरे सत्ता; वण्णे रूवे अ सव्वसो ।
मणसा कायवक्केणं; सव्वे ते दुक्खसम्भवा ॥ १२ ॥
उ. अ. ६ गा. ११

निम्ममो निरहंकारो; निस्संगो चत्तगारवो ।
समो अ सव्वभूएसु; तसेसु थावरेसु य ॥ १३ ॥
उ. अ १६ गा. ८६

लाभालाभे सुहे दुक्खे; जीविए मरणे तहा ।
समो निंदापसंसासु; समो माणवमाणओ ॥ १४ ॥

उ. अ. १६ गा. ६०

अणिस्सिओ इहं लोए, परलोए अणिस्सिओ ।
वासीचंदणकप्पो अ, असणे अणसणे तहा ॥ १५ ॥

उ. अ. १० गा. ६२

॥ इति पंचमोऽध्यायः ॥

अध्याय छठा

॥ श्री भगवानुवाच ॥

अरिहंतो महदेवो, जावज्जीवाए सुसहुणो गुरुणो।
जिण पण्णत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मए गहियं ॥ १ ॥
आवश्यक

परमत्थ संथवो वा सुदिट्ठ, परमत्थसेवणायावि ।
वावएण कुदंसणवज्जणा, य सम्मत्त सद्दहणा ॥ २ ॥
उ. अ. २८ गा. २८

कुप्पावणपासंडी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिआ ।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे ॥ ३ ॥
उ. अ. २३ गा. ६३

तहिआणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं ।
भावेण सद्द हंतस्स, सम्मत्तं त्ति विआहिअं ॥ ४ ॥
उ. अ. २८ गा. १५

निस्सग्गुवएसरुई, आणारुई सुत्तबीअरुइमेव ।
अभिगमवित्थाररुई, किरियासंखेवधम्मरुई ॥ ५ ॥
उ. अ. २८ गा. १६

नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइअव्वं ।
सम्मत्तचरित्ताइं, जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं ॥ ६ ॥
उ. अ. २८ गा. २९

नादंसणिस्स नाणं;
नाणेणं विणा न होंति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो,
नत्थि अमुक्कस्स निव्वाणं ॥ ७ ॥
उ. अ. २८ गा. ३०

निस्संकिय निक्कंखिय,
निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।
उववूह-थिरीकरणे,
वच्छल्लपभावणे अट्ठ ॥ ८ ॥
उ. अ. २८ गा. ३१

मिच्छादंसणरत्ता, सनियाणा हु हिंसगा ।
इय ये मरंति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥ ६ ॥
उ. अ. ३६ गा. २५५

सम्मदंसणरत्ता अनियाणा, सुक्कलेसमोगाढा ।
इय जे मरंति जीवा, सुलहा तेसिं भवे बोही ॥१०॥
उ. अ. ३६ गा. २५६

जिणवयणे अणुरत्ता; जिणवयणं जे करिंति भावेणं ।
अमला असंकिलिट्ठा; ते होंति परित्तसंसारी ॥११॥
उ. अ. ३६ गा. २५८

जातिं च वुड्ढिं च इहज्ज पास,
भूतेहिं जाणे पडिलेह सायं ।

तम्हा तिविज्जो परमंति णच्चा,
सम्मत्तदंसी ण करेति पावं ॥ १२ ॥
आ. अ. ३ उ. २

इओ विद्धंसमाणस्स, पुणो संबोहि दुल्लहा ।
दुल्लहाउ तहच्चाउ, जे धम्मट्ठं वियागरे ॥ १३ ॥
सू. प्र. अ. १५ गा. १८

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥

अध्याय सातवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

महव्वए पंच अणुव्वए, य,
तहेव पंचासव संवरे य ।
विरतिं इह सामणियंमि पन्ने,
लवावसक्की समणेत्तिबेमि ॥ १ ॥

सू. द्वि. अ. ६ गा. ६

इंगाली, वण, साडी,
भाडी, फोडी, सुवज्जए कम्मं ।
वाणिज्जं चेव य दंत,
लक्खरसकेसविसविसयं ॥ २ ॥

आवश्यक

एवं खु जंतपिल्लण कम्मं, निल्लंछणं च दवदाणं ।
सरदहतलायसोसं, असइपोसं च वज्जिज्जा ॥३॥

आवश्यक

दंसणवयसामाइय, पोसह पडिमा य बंभ अचित्ते ।
आरंभपेसउदिट्ठ वज्जए, समणभूए य ॥ ४ ॥

आवश्यक

खामेमिसव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झं ण केणई ॥ ५ ॥

आवश्यक

आगारि-सामाइअंगाइं, सड्ढी काएण फासए ।
पोसहं दुहओ पक्खं, एगराइं न हावए ॥६॥
उ. अ. ५ गा. २३

एवं सिक्खसमावण्णे, गिहिवासे वि सुव्वए ।
मुच्चई छविपव्वाओ, गच्छे जक्खसलोगयं ॥७॥
उ. अ. ५ गा. २४

दीहाउया इड्ढिमंता, समिद्धा कामरूविणो ।
अहुणोववन्नसंकासा, भुज्जोअच्चिमालिप्पभा ॥८॥
उ. अ. ५ गा. २७

ताणि ठाणाणि गच्छंति, सिक्खित्ता संजमं तवं ।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, जे संतिपरिनिव्वुडा ॥९॥
उ. अ. ५ गा. २८

बहिया उड्ढमादाय, नावकंखे कयाइ वि ।
पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे ॥१०॥
उ. अ. ६ गा. १३

दुल्लहाउ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा ।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छंति सोग्गइं ॥११॥
द. अ. ५ उ. १ गा. १००

संति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा ।
गारत्थेहिं य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा ॥१२॥
उ. अ. ५ गा. २०

चीराजिणं नगिणिणं, जडी संघाडि मुंडिणं ।
एयाणि वि न तायंति, दुस्सीलं परियागयं ॥१३॥
उ. अ. ५ गा. २१

अत्थंगयंमि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए।
आहारमाइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए ॥१४॥
द. अ. ८ गा. २८

जायरूवं जहामट्ठं, निद्धंतमलपावगं।
रागद्दोसभयातीतं, तं वयं बूम माहणं ॥१५॥
उ. अ. २५ गा. २१

तवस्सियं किसं दंतं, अवचियमंससोणियं।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं ॥१६॥
उ. अ. २५ गा. २२

जहा पउमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं ॥१७॥
उ. अ. २५ गा. २७

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥१८॥
उ. अ. २५ गा. ३१

समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥१९॥
उ. अ. २५ गा. ३२

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
कम्मुणा वइसो होइ, सुद्दो होइ कम्मुणा ॥२०॥
उ. अ. २५ गा. ३३

॥ इति सप्तमोऽध्यायः ॥

अध्याय आठवाँ

॥ श्री भगवानुवाच ॥

आलओ थीजणाइएणो, थीकहा य मणोरमा।
संथवो चेव नारीणं, तेसिंइंदियदरिसणं ॥ १ ॥
कूइअं रुइयं गीअं, हासिअं भुतासिआणि अ।
पणिअं भत्तपाणं च, अइमायं पाण भोअणं ॥२॥
गत्तभूसणमिट्ठं च, कामभोगा य दुज्जया।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥३॥

उ. अ. १६ गा. ११-१२-१३

जहा कुक्कुडपोअस्स, निच्चं कुललओ भयं।
एवं खु बंभयारिस्स, इत्थीविग्गहओ भयं ॥४॥

द. अ. ८ गा. ५४

जहा बिरालावसहस्स मूले;
न मूसगाणं वसही पसत्था।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे;
न बम्भयारिस्स खमो निवासो ॥५॥

उ. अ ३२ गा. १३

हत्थपायपडिछिन्नं, कन्ननासविगप्पिअं।
अवि वाससयं नारिं, बंभयारी विवज्जए ॥६॥

द. अ. ८ गा. ५६

अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लविअपेहिअं ।
इत्थीणं तं न निज्झाए, कामरागविवड्ढणं ॥७॥

द. अ. ८ गा. ५८

णो रक्खसीसु गिज्झिज्जा,
गंडवच्छासुऽणेगचित्तासु ।
जाओ पुरिसं पलोभित्ता,
खेलंति जहा वा दासेहिं ॥८॥

उ. अ. ८ गा. १८

भोगामिसदोसविसन्ने,
हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ।
बाले य मंदिए मूढे,
बज्झई मच्छिया व खेलम्मि ॥९॥

उ. अ. ८ गा. ५

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।
कामे पत्थेमाणा, अकामा जंति दुग्गइं ॥ १० ॥

उ. अ. ९ गा. ५३

खणमेत्त सुक्खा बहुकालदुक्खा,
पगामदुक्खा अनिगामसुक्खा ।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥११॥

उ. अ. १४ गा. १३

जहा किंपागफलाणं, परिणामो न सुन्दरो ।
एवं भुत्ताणं भोगाणं, परिणामो न सुन्दरो ॥१२॥
उ. अ. १६ गा. १८

दुपरिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।
अह संतिसुव्वयासाहू,जंतरंतिअतरंवणियावा॥१३॥
उ. अ. ८ गा. ६

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई ।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥१४॥
उ. अ. २५ गा. ४१

मोक्खाभिकंखिस्स वि माणवस्स,
संसार भीरूस्स ठियस्स धम्मे ।
नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए,
जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥१५॥
उ. अ. ३२ गा. १७

एए य संगे समइक्कमित्ता,
सुहुत्तरा चेव भवंति सेसा ।
जहा महासागरमुत्तरित्ता,
नई भवे अवि गंगासमाणा ॥१६॥
उ. अ. ३२ गा. १८

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।

जं काइअं माणसिअं च किंचि,
तस्संतगं गच्छइ वीयरागो ॥१७॥
उ. अ. ३२ गा. १६

देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा ।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति ते ॥१८॥
उ. अ. १६ गा. १६

॥ इति अष्टमोऽध्यायः ॥

॥ अध्याय नौवां ॥

॥ श्री भगवानुवाच ॥

सव्वे जीवा वि इच्छंति; जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं; निग्गंथा वज्जयंति णं ॥१॥

द. अ. ६ गा. ११

मुसावाओ य लोगम्मि; सव्व साहूहिं गरहिओ।
अविस्सासो य भूयाणं; तम्हा मोसं विवज्जए॥२॥

द. अ. ६ गा. १३

चित्तमंतमचित्तं वा; अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमेत्तं पि; उग्गहंसि अजाइया ॥३॥

द. अ. ६ गा. १४

मूलमेयमहम्मस्स; महादोससमुस्सयं।
तम्हा मेहुण संसग्गं; निग्गंथा वज्जयंति णं ॥४॥

द. अ. ६ गा. १७

लोभस्सेसमणुफासे; मन्ने अन्नयरामवि।
जे सिया सन्निहीकामे; गिही पव्वइए न से ॥५॥

द. अ. ६ गा. १९

जं पि वत्थं व पायं वा; कम्बलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा; धारेन्ति परिहंति य ॥६॥

द. अ. ६ गा. २०

न सो परिग्गहो वुत्तो; नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो; इइ वुत्तं महेसिणा ॥७॥
द. अ. ६ गा. २१

एयं च दोसं दट्ठूणं; नायपुत्तेण भासियं ।
सव्वाहारं न भुंजंति; निग्गंथा राइभोयणं ॥८॥
द. अ. ६ गा. २६

पुढविं न खणे न खणावए;
सीओदगं न पिए न पियावए ।
अगणि सत्थं जहा सुनिसियं;
तं न जले न जलावए जे स भिक्खू ॥९॥
द. अ. १० गा. २

अनिलेण न वीए न वीयावए;
हरियाणि न छिंदे न छिंदावए ।
बीयाणि सया विवज्जयंतो;
सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्खू ॥१०॥
द. अ. ६ गा. ३

महुकार समा बुद्धा; जे भवंति अणिस्सिया ।
नाणापिण्डरया दंता; तेण वुच्चंति साहुणो ॥११॥
द. अ. १ गा. ५

जे न वंदे न से कुप्पे; वंदिओ न समुक्कसे ।
एवमन्नेसमाणस्स; सामण्णमणुचिट्ठइ ॥१२॥
द. अ. ५ उ. २ गा. ३०

पएण समत्ते सया जए; समताधम्ममुदाहरे मुणी।
सुहमेउ सया अलूसए;णो कुज्झे णो माणि माहणे १३

सू. प्र. अ. २ उ. २ गा ६

न तस्स जाई व कुलं व ताणं;
णाणत्थ विज्जा चरणं सुचिण्णं।
णिक्खम्म से सेवइ गारिकम्मं;
ण से पारए होइ विमोयणाए ॥१४॥

सू. प्र. अ. १३ गा. ११

एवं ण से होइ समाहिपत्ते;
जे पन्नव भिक्खु विउक्कसेज्जा।
अहवा वि जे लाभमयावलित्ते;
अन्नं जणं खिंसति बालपन्ने ॥१५॥

सू. प्र. अ. १३ गा. १४

न पूयणं चेव सिलोयकामी;
पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा।
सव्वे अणट्ठे परिवज्जयंते;
आणाउले या अकसाइ भिक्खू ॥१६॥

सू. प्र. अ. १३ गा. २२

जाए सद्धाए निक्खंतो; परियायट्ठाणमुत्तमं।
तमेव अणुपालिज्जा; गुणे आयरिय सम्मए ॥१७॥

द. अ. ८ गा. ६१

॥ इति नवमोऽध्यायः ॥

अध्याय दसवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

दुमपत्तए पंडुअए जहा;
निवडइ राइगणाण अच्चए ।
एवं मणुआणं जीविअं;
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१॥
उ. अ. १० गा. १

कुसग्गे जह ओसबिंदुए;
थोवं चिट्ठइ लंब माणए ।
एवं माणुआण जीविअं;
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२॥
उ. अ. १० गा. २

इइ इत्तरिअम्मि आउए;
जीविअए बहुपच्चवायए ।
विहुणाहि रयं पुरेकडं;
समयं गोयम ! मा पमायए ॥३॥
उ. अ. १० गा. ३

दुल्लहे खलु माणुसे भवे;
चिरकालेण वि सव्वपाणिणं ।

गाढा य विवाग कम्मुणो;
समयं गोयम ! मा पमायए ॥४॥

उ. अ. १० गा. ४

पुढविकायमइगओ; उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं; समयं गोयम ! मा पमायए ॥५॥

उ. अ. १० गा. ५

आउक्कायमइगओ; उक्कोसं जीवोउ संवसे ।
कालं संखाईयं; समयं गोयम ! मा पमायए ॥६॥
तेउक्कायमइगओ; उक्कोसं जीवोउ संवसे ।
कालं संखाईयं; समयं गोयम ! मा पमायए ॥७॥
वाउक्कायमइगओ; उक्कोसं जीवोउ संवसे ।
कालं संखाईयं; समयं गोयम ! मा पमायए ॥८॥

उ. अ. १० गा. ६-७-८

वणस्सइकायमइगओ; उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालामणंतं दुरंतयं; समयं गोयम ! मा पमायए ॥९॥

उ. अ. १० गा. ९

बेइंदिअकायमइगओ;
उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखिज्जसण्णिअं;
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१०॥

उ. अ. १० गा. १०

तेइंदियकायमइगओ: उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालंसंखिज्जसण्णिअं, समयं गोयम ! मा पमायए।११

चउरिंदियकायमइगओ:
उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखिज्जसण्णिअं:
समयं गोयम ! मा पमायए॥१२॥

उ. अ. १० गा. ११-१२

पंचिंदियकायमइगओ: उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
सत्तट्ठभवग्गहणे: समयं गोयम ! मा पमायए॥१३॥

उ. अ. १० गा. १३

देवे नेरइए अइगओ, उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
इक्किक्कभवग्गहणे समयं गोयम ! मा पमायए॥१४॥

उ. अ. १० गा. १४

एवं भव संसारे, संसरइ सुहासुहेहि कम्मेहि ।
जीवो पमायबहुलो समयं गोयम ! मा पमायए॥१५॥

उ. अ. १० गा. १५

लद्धूणवि माणुसत्तणं,
आरिअत्तं पुणरवि दुल्लहं ।
बहवे दसुआ मिलक्खुआ,
समयं गोयम ! मा पमायए॥१६॥

उ. अ. १० गा. १६

लद्धूणावि आरियत्तणं,
अहीणपंचिंदियया हु दुल्लहा ।
विगलिंदियया हु दीसई,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१७॥

उ. अ. १० गा. १७

अहीणपंचिंदियत्तं पि से लहे,
उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा ।
कुतित्थिनिसेवए जणे,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१८॥

उ. अ. १० गा. १८

लद्धूणावि उत्तमं सुई,
सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा ।
मिच्छत्तनिसेवए जणे,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१९॥

उ. अ, १० गा, १९

धम्मं पि हु सद्दहंतया,
दुल्लहया काएण फासया ।
इह कामगुणेहि मुच्छिया,
समयं गोयम मा पमायए ॥२०॥

उ. अ. १० गा. २०

परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते ।

से सोयबले य हायई,
समयं गोयम ! मा पमायए॥२१॥
उ. अ. १० गा. २१

अरई गंडं विसूइया;
आयंका विविहा फुसंति ते।
विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं;
समयं गोयम ! मा पमायए॥२२॥
उ. अ. १० गा. २७

वोच्छिंद सिणेहमप्पणो;
कुमुयं सारइयं वा पाणियं।
से सव्वसिणेहवज्जिए;
समयं गोयम ! मा पमायए॥२३॥
उ. अ. १० गा. २८

चिच्चा धणं च भारियं;
पव्वइओ हि सि अणगारियं।
मा वंतं पुणो वि आविए;
समयं गोयम ! मा पमायए॥२४॥
उ. अ. १० गा. २९

न हु जिणे अज्ज दिस्सई;
बहुमए दिस्सई मग्गदेसिए।
संपइ नेयाउए पहे;
समयं गोयम ! मा पमायए॥२५॥
उ. अ. १० गा. ३१

अवसोहियकंटगापहं,

उइण्णो सि पहं महालयं ।

गच्छसि मग्गं विसोहिया,

समयं गोयम ! मा पमायए ॥२६॥

उ. अ. १० गा. ३२

अबले जह भारवाहए,

मा मग्गं विसमेऽवगाहिया ।

पच्छा पच्छाणुतावए,

समयं गोयम ! मा पमायए ॥२७॥

उ. अ. १० गा. ३३

तिण्णो हु सि अण्णवं महं

किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ।

अभितुर पारं गमित्तए,

समयं गोयम ! मा पमायए ॥२८॥

उ. अ. १० गा. ३४

अकलेवर सेणिमूसिया,

सिद्धिं गोयम ! लोयं गच्छसि ।

खेमं च सिवं अणुत्तरं,

समयं गोयम ! मा पमायए ॥२९॥

उ. अ. १० गा. ३५

॥ इति दसमोऽध्यायः ॥

अध्याय ग्यारहवाँ

॥ श्री भगवानुवाच ॥

जा य सच्चा अवत्तव्वाः सच्चामोसा य जा मुसा।
जा य बुद्धेहि अणाइण्णा, न तं भासिज्ज पन्नवं ॥१॥

द. अ. ७ गा. २

असच्चमोसं सच्चं चः अणवज्जमकक्कसं।
समुप्पेहमसंदिद्धंः गिरं भासिज्ज पन्नवं ॥२॥

द. अ. ७ गा. ३

तहेव फरुसा भासाः गुरुभूओवघाइणी।
सच्चा वि सा न वत्तव्वाः जओ पावस्स आगमो ॥३॥

द. अ. ७ गा. ११

तहेव काणं काणे त्ति; पंडगं पंडगे त्ति वा।
वाहिअं वा वि रोगि त्ति; तेणं चोरे त्ति नो वए ॥४॥

द. अ. ७ गा. १२

देवाणं मणुयाणं चः तिरियाणं च वुग्गहे।
अमुगाणं जओ होउ; मा वा होउ त्ति नो वए ॥५॥

द. अ. ७ गा. ५०

तहेव सावज्जणुमोयणी गिरा;
ओहारिणी जा य परोवघाइणी।
से कोह लोह भयस माणवो;
न हासमाणो वि गिरं वएज्जा ॥६॥
द. अ. ७ गा. ५४

अपुच्छिओ न भासेज्जा; भासमाणस्स अंतरा।
पिट्ठिमंसं न खाएज्जा; मायामोसं विवज्जए ॥७॥
द. अ. ८ गा. ४८

सक्का सहेउं आसाइ कंटया,
अओमया उच्छहया नरेणं।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए,
वईमए कण्णसरे स पुज्जो ॥८॥
द. अ. ९ उ. ३ गा. ६

मुहुत्तदुक्खाउ हवंति कंटया,
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥९॥
द. अ. ९ उ. ३ गा. ७

अवण्णवायं च परम्मुहस्स,
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च,
भासं न भासेज्ज सया स पुज्जो ॥१०॥
द. अ. ९ उ. ३ गा. ९

जहा सुणी पूइकण्णी, निक्कसिज्जइ सव्वसो ।
एवं दुस्सिलपडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जइ ॥११॥

उ. अ. १ गा. ४

कणकुंडगं चइत्ताणं, विट्ठं भुंजइ सूयरे ।
एवं सीलं चइत्ताण, दुस्सिले रमई मिए ॥१२॥

उ. अ. १ गा. ५

आहच्च चंडालियं कट्टु, न निण्हविज्ज कयाइ वि ।
कडं कडेत्ति भासेज्जा, अकडं णो कडेत्ति य ॥१३॥

उ. अ. १ गा. ११

पडिणीयं च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मुणा ।
आवी वा जइ वा रहस्से, णेव कुज्जा कयाइ वि॥१४॥

उ. अ. १ गा. १७

जणवय सम्मत्तठवणा य,
नामे रूवे पडुच्च सच्चे य ।
ववहार भाव जोगे,
दसमे ओवम सच्चेय ॥ १५ ॥

पन्नवणा भाषापद

कोहे माणे माया लोभे,
पेज्ज तहेव दोसे य ।
हासे भए अक्खाइ य,
उवघाइ य निस्सिया दसमा ॥१६॥

पन्नवणा भाषापद

इण मन्नं तु अन्नाणं; इह मेगेसि माहियं ।
देवउत्ते अयं लोए; बंभउत्तेति आवरे ॥१७॥
ईसरेण कडे लोए; पहाणाइ तहावरे ।
जीवाजीव समाउत्ते; सुहदुक्ख समन्निए ॥१८॥
सयंभुणा कडे लोए; इति वुत्तं महेसिणा ।
मारेण संथुया माया; तेण लोए असासए ॥१९॥
माहणा समणा एगे; आह अंडकडे जगे ।
असो तत्तमकासीय; अयाणंता मुसं वदे ॥२०॥

सू. प्र. उ. ३ गा. ५-६-७-८

सएहिं परियाएहिं; लोयं बूया कडेति य ।
तत्तं ते ण विजाणंति; ण विणासी कयाइ वि ॥२१॥

सू. प्र. उ. ३ गा. ९

इति एकादशोऽध्यायः ।

अध्याय बारहवां

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

किण्हा नीला य काऊय; तेऊ पम्हा तहेव य ।
सुक्क लेसा य छट्ठाय; नामाइं तु जहक्कमं ॥१॥

उ. अ. ३४ गा. ३

पंचासवप्पवत्तो; तीहिं अगुत्तो छसु अविराओय ।
तिव्वारंभपरिणओ; खुद्दो साहस्सिओ नरो ॥ २ ॥
निद्धंधसपरिणामो; निस्संसो अजिइंदिओ ।
एअ जोगसमाउत्तो; किण्ह लेसं तु परिणमे ॥३॥

उ. अ. ३४ गा. २१-२२

इस्सा अमरिस अतवो; अविज्ज माया अहीरिया ।
गेद्धी पओसे य सढे; पमत्ते रसलोलुए ॥ ४ ॥
साय गवेसए य आरंभा अविरओ;
खुद्दो साहस्सिओ नरो ।
एअ जोगसमाउत्तो;
नीललेसं तु परिणमे ॥ ५ ॥

उ. अ. ३४ गा. २३-२४

वंके वंकसमायरे; नियडिल्ले अणुज्जुए।
पलिउंचगओवहिए; मिच्छदिट्ठी अणारिए ॥६॥
उप्फालग दुट्ठवाईय; तेणे आवि य मच्छरी।
एअ जोगसमाउत्तो; काऊ लेसं तु परिणमे ॥७॥

उ. अ. ३४ गा. २५-२६

नीयावित्ती अचवले; अमाई अकुऊहले।
विणीयविणए दंते; जोगवं उवहाणवं ॥८॥
पियधम्मे दढधम्मेऽवज्जभीरू हिएसए।
एय जोगसमाउत्तो; तेऊलेसं तु परिणमे ॥९॥

उ. अ. ३४ गा. २७-२८

पयणुकोहमाणे य; माया लोभे य पयणुए।
पसंतचित्ते दंतप्पा; जोगवं उवहाणवं ॥१०॥
तहा पयणुवाई य; उवसंते जिइंदिए।
एय जोगसमाउत्तो; पम्हलेसं तु परिणमे ॥११॥

उ. अ. ३४ गा. २९-३०

अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता; धम्मसुक्काणि झायए।
पसंत चित्ते दंतप्पा; समिए गुत्ते य गुत्तिसु ॥१२॥
सरागो वीयरागो वा; उवसंते जिइंदिए।
एय जोगसमाउत्तो; सुक्कलेसं तु परिणमे ॥१३॥

उ. अ. ३४ गा. ३१-३२

किण्हा नीला काऊ तिण्णिवि; एयाओ अहम लेसाओ
एयाहिं तिहिं वि जीवो; दुग्गइं उववज्जई ॥१४॥

उ. अ. ३४ गा. ५६

तेऊ पम्हा सुक्का; तिरिण वि एयाओ धम्म लेसाओ।
एयाहिं तिहिं वि जीवो; सुग्गइं उववज्जई ॥१५॥

उ. अ. ३४ गा. ५७

अन्त मुहुत्तम्मि गए; अंतमुहुत्तम्मि सेसए चेव।
लेसाहिं परिणयाहिं; जीवा गच्छंति परलोयं ॥१६॥

उ. अ. ३४ गा. ६०

तम्हा एयासि लेसाणं; अणुभावं वियाणिया।
अप्पसत्थाओ वज्जित्ता; पसत्थाओऽहिट्ठिए मुणि १७

उ. अ. ३४ गा. ६१

॥ इति द्वादशोऽध्यायः ॥

अध्याय तेरहवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

कोहो अ माणो अ अणिग्गहीआ;
माया अ लोभो अ पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया;
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥१॥

द. अ. ८ गा. ४०

जे कोहणे होइ जगट्ठभासी;
विउसियं जे उ उदीरएज्जा।
अंधे व से दंडपहं गहाय;
अविउसिए घासति पावकम्मी ॥२॥

सू. प्र. अ. १३ उ. १ गा. ५

जे आवि अप्पं वसुमंति मत्ता;
संखा य वायं अपरिक्ख कुज्जा।
तवेण वाहं सहिउ त्ति मत्ता;
अण्णं जणं पस्सति बिंब भूयं ॥३॥

सू. प्र. अ. १३ उ. १ गा. ८

पूयणट्ठा जसो कामी; माणसम्माणकामए ।
बहुं पसवइ पावं; माया सल्लं च कुव्वइ ॥४॥

द. अ. ५ उ. २ गा. ३५

कसिणं पि जो इमं लोगं;
पडिपुरणं दलेज्ज इक्कस्स ।
तेणावि से न संतुस्से;
इइ दुप्पूरए इमे आया ॥५॥

उ. अ ८ गा. १६

सुवरणरुप्पस्स उ पव्वया भवे;
सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि;
इच्छा हु आगाससमा अणंतिया ॥६॥

उ. अ. ६ गा. ४८

पुढवी साली जवा चेव; हिरण्णं पसुभिस्सह ।
पडिपुरणं नालमेगस्स; इइ विज्जा तवं चरे ॥७॥

उ. अ. ६ गा. ४६

अहे वयइ कोहेणं; माणेणं अहमा गई ।
माया गइपडिग्घाओ; लोहाओ दुहओ भयं ॥८॥

उ. अ. ६ गा. ५४

कोहो पीइं पणासेइ; माणो विणय नासिणो ।
माया मित्ताणि नासेइ; लोभो सव्व विणासणो ॥६॥

द अ. ८ गा. ३८

उवसमेण हणे कोहं; माणं मद्दवया जिणे।
माया मज्जव भावेण; लोभं संतोसओ जिणे ॥१०॥

द. अ. ८ गा. ३९

असंखयं जीविय मा पमायए;
जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।
एअं वियाणाहि जणे पमत्ते;
कं नु विहिंसा अजया गहिंति ॥११॥

उ. अ. ४ गा. १

सुत्तेसु यावी पडिवुद्धजीवी,
न वीससे पंडिए आसुपण्णे।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं,
भारूंडपक्खी व चरऽप्पमत्तो ॥१२॥

उ. अ. ४ गा. ६

जे गिद्धे कामभोएसु, एगे कूडाय गच्छइ।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमारई ॥१३॥

उ. अ. ५ गा. ५

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्था।
दीवप्पणट्ठेव अणंत मोहे,
नेयाउअं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥१४॥

उ. अ. ४ गा. ५

हत्थागया इमे कामा, कालिआ जे अणागया ।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥१५॥
उ. अ. ५ गा. ६

जणेणसद्धिं होक्खामि, इइ बाले पगब्भइ ।
काम भोगाणुराएणं, केसं संपडिवज्जइ ॥१६॥
उ. अ. ५ गा. ७

तओ से दंडं समारभइ, तसेसु थावरेसुय ।
अट्ठाए व अणट्ठाए, भूयग्गामं विहिंसइ ॥१७॥
उ. अ. ५ गा. ८

हिंसे बाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे ।
भुंजमाणे सुरं मसं, सेयमेअं ति मन्नइ ॥१८॥
उ. अ. ५ गा. ९

कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु ।
दुहओ मल संचिणइ, सिसूणागु व्व मट्टियं ॥१९॥
उ. अ. ५ गा. १०

तओ पुट्ठो आयंकेण, गिलाणो परितप्पइ ।
पभीओ परलोगस्स, कम्माणुप्पेहि अप्पणो ॥२०॥
उ. अ. ५ गा. ११

सुआ मे नरए ठाणा, असीलाणं च जा गई ।
बालाणं कूरकम्माणं, पगाढा जत्थ वेयणा ॥ २१॥
उ. अ. ५ गा. १२

सव्वं विलविअं गीअं; सव्वं नट्टं विडंबिअं ।
सव्वे आहरणा भारा; सव्वे कामा दुहावहा ॥२२॥

उ. अ. १३ गा. १६

जहेह सीहो व मिअं गहाय;
मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले ।
न तस्स माया व पिआ व भाया;
कालम्मि तम्मि सहरा भवंति ॥२३॥

उ. अ. १३ गा. २२

इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि;
इमं च मे किच्चमिमं अकिच्चं ।
तं एवमेवं लालप्पमाणं;
हरा हरंति ति कहं पमाओ ॥२४॥

उ. अ. १४ गा. १५

॥ इति त्रयोदशोऽध्यायः ॥

अध्याय चौदहवां

—————(:o:)—————

॥ श्री भगवानुवाच ॥

संबुज्झह किं न बुज्झह; संबोही खलु पेच्च दुल्लहा
णो हूवणमंति राइओ; नो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥१॥

सू. प्र. अ. २ उ. १ गा. १

डहरा वुड्ढाह पासह; गब्भत्था वि चियंति माणवा।
सेणे जह वट्टयं हरे; एवमाउक्खयम्मि तुट्टई ॥२॥

सू. प्र. अ. २ उ. १ गा. २

मायाहिं पियाहिं लुप्पइ; नो सुलहा सुगई य पेच्चओ।
एयाइं भयाइं पेहिया; आरंभा विरमेज्ज सुव्वए॥३॥

सू. प्र. अ. २ उ. १ गा. ३

जमिणं जगति पुढो जगा; कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो।
सयमेव कडेहिं गाहइ, णो तस्स मुच्चेज्ज पुट्ठयं ॥४॥

सू. प्र. अ. २ उ. १ गा. ४

विरया वीरा समुट्ठिया:
कोहकायरियाइ पीसणा ।
पाणे ण हणंति सव्वसो;
पावाउ विरिया अभिनिव्वुडा ॥ ५ ॥

सू. प्र. अ. २ उ. १ गा. १२

जे परभवइ परं जणं;
संसारे परिवत्तइ महं।
अदु इंखणिया उ पाविया,
इति संखाय मुणी ण मज्जई ॥६॥
सू. प्र. श्र. २ उ. ३ गा. २

जे इह सायाणुनरा;
अज्झोववन्ना कामेहिं मुच्छिया।
किवणेणसमं पगब्भिया:
न विजाणंति समाहिमाहितं ॥७॥
सू. प्र. श्र. २ उ. ३ गा. ४

अदक्खुव दक्खुवाहियं;
सद्दहसुअदक्खु दंसणा।
हंदि हु सुनिरूद्ध दंसणे;
मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा ॥८॥
सू. प्र. श्र. २ उ.३ गा. ११

गारं पि अ आवसे नरे;
अणुपुव्वं पाणेहिं संजए।
समता सव्वत्थ सुव्वते;
देवाणं गच्छे सलोगयं ॥९॥
सू. प्र. श्र. २ उ. ३ गा. १३

अभविंसु पुरा वि भिक्खुवो;
आएसावि भवंति सुव्वता।

एयाइं गुणाइं आहु ते;
कासवस्स अणुधम्म चारिणो ॥१०॥
सू. प्र. अ. २ उ. ३ गा. २०

तिविहेण वि पाण माहणे;
आयहिते अणियाण संवुडे ।
एवं सिद्धा अणंतसो;
संपइ जे अणागयावरे ॥११॥
सू. प्र. अ. २ उ. ३ गा. २१

॥ श्री भगवानुवाच ॥

संबुज्झहा जंतवो माणुसत्तं;
दट्ठुं भयं बालिसेणं अलंभो ।
एगंत दुक्खे जरिएव लोए,
सकम्मुणा विप्परियासुवेइ ॥१२॥
सू. प्र. अ. ७ उ. १ गा. ११

जहा कुम्मे सअंगाइं; सए देहे समाहरे ।
एवं पावाइं मेधावी; अज्झप्पेण समाहरे ॥१३॥
सू. प्र. अ. ८ उ. १ गा. १६

साहरे हत्थपाए य; मणं पंचेन्दियाणि य ।
पावकं च परिणामं; भासा दोसं च तारिसं॥१४॥
सू. प्र. अ. ८ उ. १ गा. १७

एयं खु णाणिणो सारं; जं न हिंसति कंचणं ।
अहिंसा समयं चेव, एतावंतं वियाणिया ॥ १५ ॥

सू. प्र. श्र. ११ उ. १ गा. १०

संबुज्झमाणे उ णरे मतीमं;
पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा ।
हिंसप्पसूयाइं दुहाइं मत्ता;
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥ १६ ॥

सू. प्र. श्र. १० उ. १ गा. २१

आयगुत्ते सया दंते; छिन्नसोए अणासवे ।
जं धम्मं सुद्धमक्खाति; पडिपुन्नमणालिसं ॥ १७ ॥

सू. प्र. श्र. ११ उ. १ गा. २४

न कम्मणा कम्म खवेंति बाला;
अकम्मणा कम्म खवेंति धीरो ।
मेधाविणो लोभमया वतीता;
संतोसिणो नोपकरेंति पावं ॥ १८ ॥

सू. प्र. श्र. १२ गा. १५

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे;
ते आत्तउ पासइ सव्व लोए ।
उव्वेहती लोगमिणं महंतं;
बुद्धेऽपमत्तेसु परिव्वएज्जा ॥ १९ ॥

सू. प्र. श्र. १३ गा. १८

॥ इति चतुर्दशोऽध्यायः ॥

अध्याय पन्द्रहवां

एगे जिए जिया पंच; पंच जिए जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ताणं; सव्वसत्तु जिणामहं ॥ १ ॥
उ. अ. २३ गा. ३६

मणो साहसिओ भीमो; दुट्ठस्सो परिधावइ ।
तं सम्मं तु निगिण्हामि; धम्मसिक्खाइ कंथगं ॥२॥
उ. अ. २३ गा. ५८

सच्चा तहेव मोसा य; सच्चामोस तहेव य ।
चउत्थी असच्चमोसाउ; मणगुत्ती चउव्विहा ॥ ३ ॥
उ. अ. २४ गा. २०

संरंभसमारंभे; आरंभम्मि तहेव य ।
मणं पवत्तमाणं तु; निअत्तिज्ज जयं जई ॥ ४ ॥
उ. अ. २४ गा. २१

वत्थगंधमलंकारं; इत्थीओ सयणाणि य ।
अच्छंदा जे न भुंजंति; न से चाइ ति वुच्चइ ॥ ५ ॥
द. अ. २ गा. २

जे य कंते पिए भोए; लद्धे विपिट्ठि कुव्वइ ।
साहीणे चयइ भोए; से हु चाइ ति वुच्चइ ॥ ६ ॥
द. अ. २ गा. ३

समाए पेहाए परिव्वयंतो;
सिया मणो निस्सरई बहिद्धा।
न सा महं नो वि अहं पि तीसे;
इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं ॥ ७ ॥
द. अ २ गा. ४

पाणिवहमुसावाए; अदत्तमेहुण परिग्गहा विरओ।
राइभोयण विरओ; जीवो होइ अणासवो ॥ ८ ॥
उ. अ. ३० गा. २

जहा महातलागस्स; सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिंचणाए तवणाए; कमेणं सोसणा भवे ॥ ९ ॥
उ. अ. ३० गा. ५

एवं तु संजयस्सावि; पावकम्मनिरासवे।
भवकोडिसंचियं कम्मं; तवसा निज्जरिज्जइ ॥१०॥
उ. अ. ३० गा. ६

सो तवो दुविहो वुत्तो; बाहिरब्भिंतरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो; एवमब्भिंतरो तवो ॥ ११ ॥
उ. अ. ३० गा. ७

अणसणमूणोयरिया;
भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया;
य बज्झो तवो होइ ॥ १२ ॥
उ. अ. ३० गा. ८

पायच्छित्त विणओ;
वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउस्सग्गो;
एसो अब्भितरो तवो ॥ १३ ॥
उ. अ. ३० गा. ३०

रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं;
अकालिअं पावइ से विणासं।
रागाउरे से जह वा पयंगे;
आलोअलोले समुवेइ मच्चुं ॥ १४ ॥
उ. अ. ३२ गा. २४

सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं;
अकालिअं पावइ से विणासं।
रागाउरे हरिणमिए व्व मुद्धे;
सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं ॥ १५ ॥
उ. अ. ३२ गा. ३७

गंधेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं;
अकालिअं पावइ से विणासं।
रागाउरे ओसहिगंध गिद्धे;
सप्पे बिलाओ विव निक्खमंते ॥ १६ ॥
उ. अ. ३२ गा. ५०

रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं;
अकालिअं पावइ से विणासं।

रागाउरे बडिस विभिन्नकाए;
　　मच्छे जहा आमिस भोग गिद्धे ॥ १७ ॥
　　　　उ. अ. ३२ गा. ६३

फासस्स जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं;
　　अकालिअं पावइ से विणासं।
रागाउरे सीयल जलावसन्ने;
　　गाहग्गहीए महिसे व रण्णे ॥ १८ ॥
　　　　उ. अ. ३२ गा ७६

॥ इति पंचदशोऽध्यायः ॥

अध्याय सोलहवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

समरेसु अगारेसु; संधीसु य महापहे ।
एगो एगित्थिए सद्धिं; णेव चिट्ठे ण संलवे ॥ १ ॥
उ. अ. १ गा. २६

साणं सूइअं गाविं; दित्तं गोणं हयं गयं ।
संडिब्भं कलहं जुद्धं; दूरओ परिवज्जए ॥ २ ॥
द. अ. ५ उ. १ गा. १२

एगया अचेलए होइ; सचेले आवि एगया ।
एअं धम्महियं णच्चा; णाणि णो परिदेवए ॥ ३ ॥
उ. अ. २ गा. १३

अक्कोसेज्जा परं भिक्खुं; न तेसि पडिसंजले ।
सरिसो होइ बालाणं; तम्हा भिक्खू न संजले ॥४॥
उ. अ. २ गा. २४

समणं संजयं दंतं; हणेज्जा को वि कत्थइ ।
नत्थि जीवस्स नासो ति; एवं पेहिज्ज संजए ॥५॥
उ. अ. २ गा. २७

बालाणं अकामं तु; मरणं असइं भवे।
पंडिआणं सकामं तु; उक्कोसेणं सइं भवे ॥ ६ ॥
उ. अ. ५ गा. ३

सत्थगहणं विसभक्खणं च; जलणं च जलप्पवेसो य।
अणायार भंडसेवा; जम्मणमरणाणि बंधंति ॥ ७ ॥
उ. अ. ३६ गा. २

अह पंचहिं ठाणेहिं; जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थंभा कोहा पमाएणं; रोगेणालस्सएण य ॥ ८ ॥
उ. अ. ११ गा. ३

अह अट्ठहिं ठाणेहिं; सिक्खासीले त्ति वुच्चइ।
अहस्सिरे सया दंते; न य मम्ममुदाहरे ॥ ९ ॥
नासीले न विसीले अ; न सिआ अइलोलुए।
अकोहणे सच्चरए; सीक्खासीले त्ति वुच्चइ ॥१०॥
उ. अ. ११ गा. ४-५

जे लक्खणं सुविण पउंजमाणे;
निमित्तकोऊहलसंपगाढे।
कुहेडविज्जासवदारजीवी;
न गच्छइ सरणं तम्मि काले ॥ ११ ॥
उ. अ. २० गा. ४५

पडंति नरए घोरे, जे नरा पावकारिणो।
दिव्वं च गइं गच्छंति, चरित्ता धम्ममारियं ॥१२॥
उ. अ. १८ गा. २५

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो;
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो;
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥ १३ ॥
उ. अ. ३२ गा. ८

बहुआगमविण्णाणा;समाहिउप्पायगा य गुणगाही।
एएणं कारणेणं; अरिहा आलोयणं सोउं ॥ १४ ॥
उ. अ. ३६ गा. २६१

भावणा जोगसुद्धप्पा, जलेणावा व आहिया।
नावा व तीरसम्पन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टइ ॥ १५ ॥
सू. प्र. अ. १५ गा. ५

सवणे नाणे विण्णाणे, पच्चक्खाणे य संजमे।
अणाहए तवे चेव वोदाणे, अकिरिया सिद्धी ॥१६॥
भ. श. २ उ. ५

अवि से हासमासज्ज, हंता णंदीति मन्नति।
अलं बालस्स संगणं, वेरं वड्ढति अप्पणो ॥ १७ ॥
आ. प्र. अ. ३ उ. २

आवस्सयं अवस्सं करणिज्जं,
धुवनिग्गहो विसोहियं।
अज्झयणछक्कवग्गो,
नाओ आराहणामग्गो ॥ १८ ॥
अनुयोगद्वार

सावज्जजोगविरई,
उक्कित्तण गुणवओ च पडिवत्ती।

खलिचस्स निंदणा,

वणतिगिच्छगुणधारणा चेव ॥ १९ ॥

अनुयोगद्वार

जो समो सव्वभूएसु; तसेसु थावरेसु य ।
तस्स सामाइयं होई इइ केवली भासियं ॥ २० ॥

अनुयोगद्वार

तिण्णिसहस्सा सत्तसयाइं; तेहुत्तरिं च ऊसाला ।
एस मुहुत्तो दिट्ठो; सव्वेहिं अणंतनाणीहिं ॥ २१ ॥

भ. श ६ उ. ७

॥ इति षोडशोऽध्यायः ॥

अध्याय सत्रहवां

॥ श्री भगवानुवाच ॥

नेरइया सत्तविहा; पुढवीसु सत्तसू भवे ।
रयणाभासक्कराभ वालुयाभा आहिआ ॥ १ ॥
पंकाभा धूमाभा; तम तमतमा तहा ।
इइ नेरइआ एए; सत्तहा परिकित्तिया ॥ २ ॥

उ. अ. ३६ गा. १५६-१५७

जे केइ बाला इह जीवियट्ठी;
पावाइं कम्माइं करंति रुद्दा ।
ते घोररूवे तमिसंधयारे,
तिव्वाभितावे नरए पडंति ॥ ३ ॥

सू. द्वि. अ. ५ उ. १ गा. ३

तिव्वं तसे पाणिणो थावरे या,
जे हिंसति आयसुहं पडुच्च ।
जे लूसए होइ अदत्तहारी;
ण सिक्खति सेय वियस्स किंचि ॥ ४ ॥

सू. प्र. अ. ५ उ. १ गा. ४

छिंदंति बालस्स खुरेण नक्कं;
उठे वि छिदंति दुवेवि कन्न ।

जिब्भं विणिक्कस्स विहत्थिमित्तं;
तिक्खाहिं सूलाइ भितावयंति ॥ ५ ॥
सू. प्र.अ. ५ उ. १ गा. २२

ते तिप्पमाणा तलसंपुडं व्व;
राइंदियं तत्थ थणंति बाला।
गलंति ते सोणिअपूयमंसं,
पज्जोइ या खारपइद्धियंगा ॥ ६ ॥
सू. प्र. अ. ५ . १ गा. २३

रुहिरे पुणो वच्च समुस्सिअंगे,
भिन्नुत्तमंगे परिवत्तयंता।
पयंति णं णरइए फुरंते;
सजीव मच्छेव अयोकवल्ले ॥ ७ ॥
सू. प्र. अ. ५ उ. १ गा. १५

नो चेव ते तत्थ मसी भवंति;
ण भिज्जति तिव्वाभि वेयणाए।
तमाणुभागं अणुवेदयंता;
दुक्खंति दुक्खी इह दुक्कडेणं ॥ ८ ॥
सू. प्र. अ. ५ उ. १ गा. १६

अच्छी निमिलियमत्तं; नत्थि सुहं दुक्खमेव अणुबद्धं
नरए नेरइयाणं; अहोनिसं पच्चमाणाणं ॥ ९ ॥
जी. प्र. ३ उ. ३ गा. ११

अइसीयं अइउण्हं; अइतण्हा अइखुहा।
अइभयं च नरए नेरयाणं; दुक्खसयाइं अविस्सामं १०
जी. प्र. ३ उ. ३ गा. १२

जं सारिसं पुव्वमकासिकम्मं;
तमेव आगच्छति संपराए ।
एगंत दुक्खं भवमज्झणित्ता;
वेदंति दुक्खी तमणंतदुक्खं ॥ ११ ॥
सू. प्र. अ. ५ उ. २ गा. २३

जे पावकम्मेहिं धणं मणूसा;
समाययंति अमइं गहाय ।
पहाय ते पासपयट्टिए नरे;
वेराणुबद्धा नरयं उविंति ॥ १२ ॥
उ. अ. ४ गा. २

एयाणि सोच्चा णरगाणि धीरे;
न हिंसए किंचण सव्व लोए ।
एगंतदिट्ठी अपरिग्गहेउ;
बुज्झिज्ज लोयस्स वसं न गच्छे ॥ १३ ॥
सू. प्र. अ. ५ उ. २ गा. २४

देवा चउव्विहा वुत्ता, ते मे कित्तयओ सुण ।
भोमेज्जवाणमन्तर, जोइस वेमाणिया तहा ॥ १४ ॥
उ. अ. ३६ गा. २०३

दसहा उ भवणवासी, अट्ठहा वणचारिणो ।
पंच विहा जोइसिया, दुविहा वेमाणिया तहा ॥१५॥
उ. अ. ३६ गा. २०४

असुरा नाग सुवण्णा; विज्जू अग्गी वियाहिया ।
दीवोदहि दिसा वाया; थणिया भवणवासिणो ॥१६॥

उ. अ. ३६ गा. २०५

पिसाय भूय जक्खा य; रक्खसा किन्नरा किंपुरिसा।
महोरगाय गंधव्वा; अट्ठविहा वाणमन्तरा ॥ १७ ॥

उ. अ. ३६ गा. २०६

चन्दा सूराय नक्खत्ता; गहा तारागणा तहा ।
ठिया विचारिणो चेव; पंचहा जोइसालया ॥ १८ ॥

उ अ. ३६ गा. २०७

वेमाणिया उ जे देवा; दुविहा ते वियाहिया ।
कप्पोवगा य बोधव्वा; कप्पाईया तहेव य ॥ १६ ॥

उ. अ. ३६ गा. २०८

कप्पोवगा बारसहा; सोहम्मीसाणगा तहा ।
सणंतकुमारमाहिन्दा; बम्भलोगा य लंतगा ॥ २० ॥
महासुक्का सहस्सारा; आणया पाणया तहा ।
आरणा अच्चुया चेव; इइ कप्पोवगा सुरा ॥ २१ ॥

उ. अ. ३६ गा. २०६-२१०

कप्पाईया उ जे देवा; दुविहा ते वियाहिया ।
गेविज्जाणुत्तरा चेव; गेविज्ज नवविहा तहिं ॥ २२ ॥

उ. अ. ३६ गा. २११

हेट्ठिमा हेट्ठिमा चेव; हेट्ठिमा मज्झिमा तहा।
हेट्ठिमा उवरिमा चेव; मज्झिमा हेट्ठिमा तहा ॥२३॥
मज्झिमा मज्झिमा चेव; मज्झिमा उवरिमा तहा।
उवरिमा हेट्ठिमा चेव; उवरिमा मज्झिमा तहा ॥२४॥
उवरिमा उवरिमा चेव; इय गेविज्जगा सुरा।
विजया वेजयंता य; जयंता अपराजिया ॥ २५ ॥
सव्वत्थसिद्धगा चेव; पंचहाणुत्तरा सुरा।
इइ वेमाणिया एए;ऽणेगहा एवमायओ ॥ २६ ॥

उ. अ. ३६ गा. २१२-२१३-२१४-२१५

जेसिं तु विउला सिक्खा; मूलियं ते अइत्थिया।
सीलवंता सविसेसा; अदीणा जंति देवयं ॥ २७ ॥

उ. अ ७ गा. २१

विसालिसेहिं सीलेहिं; जक्खा उत्तर उत्तरा।
महासुक्का व दीप्पंता; मण्णंता अपुणच्चवं ॥२८॥
अप्पिया देवकामाणं; कामरूवविउव्विणो।
उड्ढं कप्पेसु चिट्ठंति; पुव्वा वाससयाबहू ॥ २९ ॥

उ. अ. ३ गा. १४-१५

जहा कुसग्गे उदगं; समुद्देण समं मिणे।
एवं माणुस्सगा कामा; देवकामाण अंतिए ॥ ३० ॥

उ. अ. ७ गा. २३

तत्थ ठिच्चा जहा ठाणं; जक्खा आउक्खए चया ।
उवेंति माणुसं जोणिं; से दसंगेऽभिजायइ ॥ ३१ ॥

उ. अ. ३ गा. १६

खित्तं वत्थुं हिरण्णं च; पसवो दास पोरुसं ।
चत्तारि कामखंधाणि; तत्थ से उववज्जई ॥ ३२ ॥

उ. अ ३ गा. १७

मित्तवं नाइवं होइ; उच्चागोए य वण्णवं ।
अप्पायंके महापण्णे; अभिजाए जसो बले ॥ ३३ ॥

उ. अ. ३ गा. १८

॥ इति सप्तदशोऽध्यायः ॥

अध्याय अठारहवाँ

॥ श्री भगवानुवाच ॥

आणाणिद्देसकरे; गुरुणमुववायकारए।
इंगियागारसंपन्ने; से विणीय ति वुच्चई ॥ १ ॥

उ. अ. १ गा. २

अणुसासिओ न कुप्पिज्जा; खंतिं सेविज्ज पंडिए।
खुड्डेहिं सह संसग्गिं; हासं कीडं च वज्जए ॥ २ ॥

उ. अ. १ गा. ९

आसणगओ ण पुच्छेज्जा; णेव सेज्जागओ कयाइ वि
आगम्मुक्कुडुओ संतो; पुच्छेज्जा पंजलीउडो ॥ ३ ॥

उ. अ. १ गा. २२

जं से बुद्धाणुसासंति; सीएण फरुसेण वा।
मम लाभो त्ति पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे ॥ ४ ॥

उ. अ. १ गा. २७

हियं विगयभया बुद्धा; फरुसं पि अणुसासणं।
वेसं तं होइ मूढाणं; खंतिसोहिकरं पयं ॥ ५ ॥

उ. अ. १ गा. २९

अभिक्खणं कोही हवइ; पबंधं च पकुव्वई ।
मेत्तिज्जमाणो वमइ; सुयं लद्धूण मज्जई ॥ ६ ॥
अवि पावपरिक्खेवी, अवि मित्तेसु कुप्पई ॥
सुप्पियस्सावि मित्तस्स; रहे भासइ पावगं ॥७॥
पइण्णवाई दुहिले थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ॥
असंविभागी अवियत्ते; अविणीए त्ति वुच्चई ॥८॥

उ. अ. ११ गा. ७-८-६

अह पण्णरसहिं ठाणेहिं; सुविणीए त्ति वुच्चई ।
नीयावित्ती अचवले; अमाई अकुऊहले ॥ ६ ॥

उ. अ. ११ गा. १०

अप्पं चाहिक्खिवई; पबंधं च न कुव्वई ।
मेत्तिज्जमाणो भयई; सुयं लद्धुं न मज्जई ॥१०॥
न य पावपरिक्खेवी; न य मित्तेसु कुप्पई ।
अप्पियस्सावि मित्तस्स; रहे कल्लाण भासई ॥११॥
कलहडमर वज्जए; बुद्धे अभिजाइए ।
हिरिमं पडिसंलीणे; सुविणीए त्ति वुच्चई ॥ १२ ॥

उ. अ. ११ गा. ११-१२-१३

जहाहि अग्गी जलणं नमंसे;
नाणाहुईमंत पयाभिसत्तं ।
एवायरियं उवचिट्ठइज्जा;
अणंत नाणोवगओ वि संतो ॥ १३ ॥

द. अ. ६ उ. १ गा. ११

आयरियं कुवियं णच्चा; पत्तिपण पसायप ।
विज्झवेज्ज पंजलीउडो; वइज्ज ण पुणत्ति य॥१४॥
उ. अ. १ गा. ४१

णच्चा णमइ मेहावी; लोए कित्ती से जायइ ।
हवई किच्चाण सरणं; भूयाणं जगई जहा ॥ १५ ॥
उ. अ. १ गा. ४५

स देवगंधव्वमणुस्सपूइए;
चइत्तु देहं मलपंकपुव्वयं ।
सिद्धे वा हयइ सासए;
देवे वा अप्परए महिड्ढिए ॥ १६ ॥
उ. अ. १ गा. ४८

अत्थि एगं धुवं ठाणं; लोगग्गम्मि दुरारूहं ।
जत्थ नत्थि जरामच्चू; वाहिणो वेयणा तहा ॥१७॥
उ. अ. २३ गा. ८१

निव्वाणं ति अवाहं ति; सिद्धीलोगग्गमेव य ।
खेमं सिवमणावाहं; जं चरंति महेसिणो ॥ १८ ॥
उ. अ. २३ गा. ८३

नाणं च दंसणं चेव; चरित्तं च तवो तहा ।
एयं मग्गमणुपत्ता; जीवा गच्छंति सोग्गइं ॥ १९ ॥
उ. अ. २८ गा. ३

नाणेण जाणई भावे; दंसणेण य सद्दहे ।
चरित्तेण निगण्हाइ; तवेण परिसुज्झई ॥ २० ॥
उ. अ. २८ गा. ३५

नाणस्स सव्वस्स पगासणाए;
अण्णाण मोहस्स विवज्जणाए ।
रागस्स दोसस्स य संखएणं;
एगंत सोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥ २१ ॥

उ. अ. ३२ गा. २

सव्वं तओ जाणइ पासए य;
अमोहणे होइ निरंतराए ।
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते;
आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे ॥ २२ ॥

उ. अ. ३२ गा. १०९

सुक्कमूले जहा रुक्खे; सिच्चमाणे ण रोहंति ।
एवं कम्मा ण रोहंति; मोहणिज्जे खयंगए ॥२३॥

दशाश्रुतस्कन्ध अ. ५ गा. १३

जहा दड्ढाणं बीयाणं; ण जायंति पुणंकुरा ।
कम्म बीएसु दड्ढेसु; न जायंति भवंकुरा ॥ २४ ॥

दशाश्रुतस्कन्ध अ. ५ गा. १४

॥ श्री गौतमोवाच ॥

कहिं पडिहया सिद्धा; कहिं सिद्धा पइट्ठिया ।
कहिं बोंदीं चइत्ता णं; कत्थ गंतूण सिज्झई ॥२५॥

उ. अ. ३६ गा. ५

॥ श्री भगवानुवाच ॥

अलोए पडिहया सिद्धा;
लोयग्गे अ पइट्ठिया।
इहं बोंदिं चइत्ता णं;
तत्थ गंतूण सिज्झई ॥ २६ ॥

उ. अ. ३६ गा. ५७

अरूविणो जीवघणा; नाणदंसणसन्निया।
अउलं सुहसम्पन्ना; उवमा जस्स नत्थि उ ॥ २७ ॥

उ. अ. ३६ गा. ६७

॥ सुधर्मोवाच ॥

एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी;
अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसण धरे।
अरहा णायपुत्ते भवयं;
वेसालिए विआहिए त्तिबेमि ॥ २८ ॥

उ. अ. ६ गा. १७

॥ इति अष्टादशोऽध्यायः ॥

अवश्य पढ़िये !

ज्ञान वृद्धि के लिये पुस्तकें मंगवा कर वितरण कीजिये.

आदर्श मुनि १।) गुजराती १।) जैन लावणी विलास -)
महाराणा उदयपुर और धर्मोपदेश ≋॥) राजा हरिश्चन्द्र -)
श्रीजै-सु-चै-ब-भाग १ ≈) दूसरा ≡) तीसरा ≡॥) चौथा ≡)॥पां -)
महावीर स्तोत्र अर्थ सहित ।-)समकितसार ॥।)जम्बू चरित्र -॥)
गजल बहार ≈) धर्मोपदेश व सन्धि पत्र -) सीता बनवास -)
स्तवन मनोहर माला भाग १ मू० ≡)भाग २ ≈) ज्ञान पंचमी -)
मुखवस्त्रिकानिर्णय)॥। जैन ग-गुल च-बहार -)रुक्मणीचरित्र ऽ॥
सत्योपदेशभजनमाला ≈॥)भा. ३ -॥प्र-चरित्र ऽ॥ तम्बाखू नि. ≈)
जैन स्तवन मनोरंजन गुच्छा ≈) राजा विक्रम की लावणी -॥)
जैनमत दिग्दर्शन त्रिंशिका -॥)अनुपूर्वी सैकड़ा २)नेमीराजर्षि -)
इक्षुकाराध्ययन सचित्र ।)पुच्छिसुणं)॥ उदयपुरमें अपूर्वउपकार।)
उद्घोषणा॥)मुख वस्त्रिका निर्णय सचित्र।)सम्यक्त्व कौमुदी -॥)
चम्पक चरित्र -।) फूल बाग)॥ समस्या पूर्ति सुमनमाला ≋)
प्रदेशी राजा की लावणी)॥। धर्मबुद्धि चरित्र -॥ आदर्शतपस्वी ≡)
सुश्रावक कामदेव सचित्र -॥) सुश्रावक अरणक सचित्र ≈)
अष्टादश पाप निषेध ≈) श्रीपाल चरित्र -॥) काव्य विलास -)॥
सतीअंजना और वीरहनुमान ।-) पार्श्वनाथ चरित्र ≡)
भगवान महावीर का दिव्य संदेश ≡॥) जैन स्तवन वाटिका ≈)॥
जैन साधु मराठी -) अंग्रेजी -) सविधि प्रति क्रमण -)
सुख साधन ≈॥, ।), ।-) मुख वस्त्रिका की प्राचीनता सिद्धि ≡)
स्था० की प्राचीनता सिद्धि ।) भरत चक्री सुर्योदय ≈॥।
व्याख्यान मौक्तिक माला गुजराती ।) सामायिक सूत्र -)
जैन मन मोहन माला -) भक्तामरादि स्तोत्र -)

पता-श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति, रतलाम।